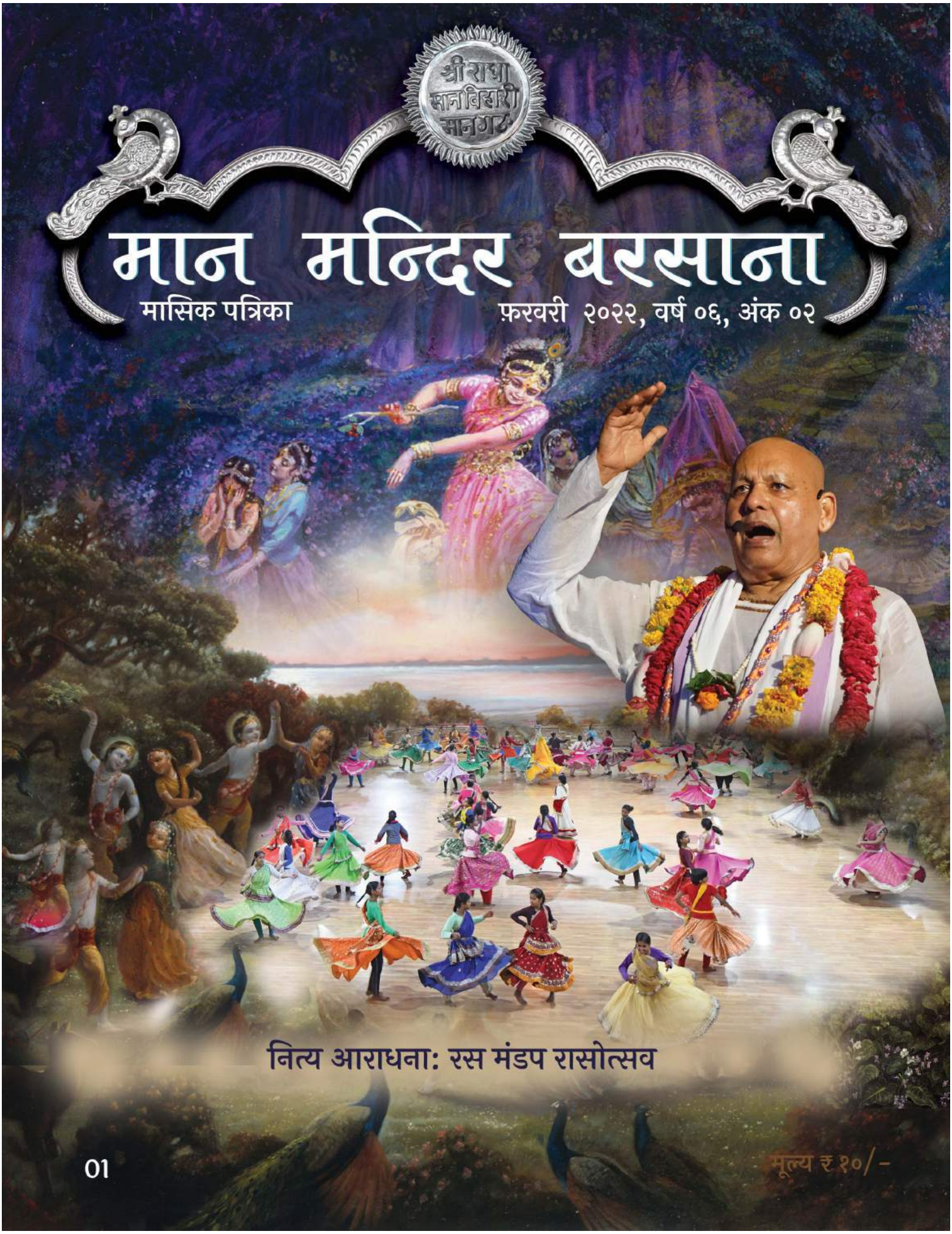

मान मन्दिर बरसाना

मासिक पत्रिका

फ़रवरी २०२२, वर्ष ०६, अंक ०२

नित्य आराधना: रस मंडप रासोत्सव

मूल्य ₹ १०/-

देवरिया में पूज्या व्यास साध्वी श्री मुरलिका जी द्वारा
श्रीमद्भागवत कथा एवं हरिनाम प्रभात फेरी।

अनुक्रमणिका

विषय- सूची **पृष्ठ- संख्या**

१ कृष्णप्रेम की प्रतिमूर्ति 'गोपिकाएँ'.....०५
२ श्रीकृपा-साध्य 'समर्पण-भाव'.....०८
३ भजन में बाधक 'गृहासक्ति'.....०९
४ असली त्याग 'अनासक्ति'.....१२
५ वास्तविक भक्ति 'संत-संग'.....१४
६ विशुद्ध आसक्ति 'भक्त-प्रेम'.....१६
७ अवधारणा से असली आराधना.....१८
८ परम सेवाराधक 'श्रीकृष्णदासजी'....२१
९ भक्त का आभूषण 'शील-स्वभाव'.....२३
१० परम तीर्थमय 'गाय'.....२५
११ मोहजाल से बचने का उपाय 'सत्संग'.....२७
१२ भक्तिमयी साधना.....३०
१३ भवभयहारी 'समत्व बुद्धि.....३२
१४ वास्तविक विवेक 'वैराग्य.....३४

तेरे चरणों की छाया में आये हैं हम ।
तुम राखो न राखो तुम्हारी मरजी ।।
दर दर डोला दर दर देखा पर तुझ जैसा तुझ को देखा,
ये पेश करी अपनी अरजी, तुम राखो न राखो तुम्हारी मरजी ।
दुनियावी यारी बड़ी सस्ती, ये तंग दिलों की है बस्ती,
हर शख्स में देखा खुदगरजी, तुम राखो न राखो तुम्हारी मरजी ।
बदी मुझमे है नेकी है तुझमें, भरपूर मेहरबानी तुझमें,
सब लोग यहाँ के हैं फरजी, तुम राखो न राखो तुम्हारी मरजी ।
हम आये यहाँ पै ऐ दिलबर, तू सबसे आला है नटवर,
नहीं छोड़े तेरा दर यारा जी, तुम राखो न राखो तुम्हारी मरजी ।

|| राधे किशोरी दया करो ||

हमसे दीन न कोई जग में,
बान दया की तनक ढरो ।
सदा ढरी दीनन पै श्यामा,
यह विश्वास जो मनहि खरो ।
विषम विषयविष ज्वालमाल में,
विविध ताप तापनि जु जरो ।
दीनन हित अवतरी जगत में,
दीनपालिनी हिय विचरो ।
दास तुम्हारो आस और की,
हरो विमुख गति को झगरो ।
कबहूँ तो करुणा करोगी श्यामा,
यही आस ते द्वार पर्‌यो ।

— पूज्यश्री बाबा महाराज कृत

संरक्षक- **श्रीराधामानबिहारीलाल**

प्रकाशक – **राधाकान्त शास्त्री, मानमंदिर सेवा संस्थान,**
गह्वरवन, बरसाना, मथुरा (उ.प्र.)
mob. राधाकांत शास्त्री 9927338666
ब्रजकिशोरदास.....6396322922
(Website :www.maanmandir.org)
(E-mail :info@maanmandir.org)

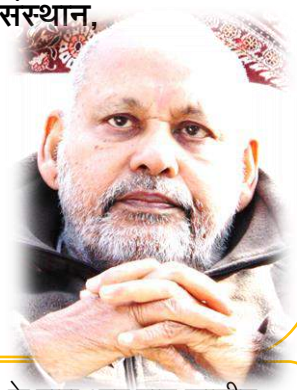

श्रीमानमंदिर की वेबसाइट www.maanmandir.org के द्वारा आप प्रातःकालीन सत्संग का ८:०० से ९:०० बजे तक तथा संध्याकालीन संगीतमयी आराधना का सायं ६:०० से ७:३० बजे तक प्रतिदिन लाइव प्रसारण देख सकते हैं।

परम पूज्यश्री रमेश बाबा महाराज जी द्वारा सम्पूर्ण भारत को आह्वान –

"मजदूर से राष्ट्रपति और झोंपड़ी से महल तक रहने वाला प्रत्येक भारतवासी विश्वकल्याण के लिए गौ-सेवा-यज्ञ में भाग ले।"

*** योजना ***

अपनी आय से १ रुपया प्रति व्यक्ति प्रतिदिन निकाले व मासिक, त्रेमासिक, अर्धवार्षिक अथवा वार्षिक रूप से इकट्ठा किया हुआ सेवा द्रव्य किसी विश्वसनीय गौ सेवा प्रकल्प को दान कर गौ-रक्षा कार्य में सहभागी बन अनंत पुण्य का लाभ लें। हिन्दू शास्त्रों में अंश मात्र गौ सेवा की भी बड़ी महिमा का वर्णन किया गया है।

विशेष:- इस पत्रिका को स्वयं पढ़ने के बाद अधिकाधिक लोगों को पढ़ावें जिससे आप पुण्यभाक् बनें और भगवद्-कृपा के पात्र बनें। हमारे शास्त्रों में भी कहा गया है –

सर्वे वेदाश्च यज्ञाश्च तपो दानानि चानघ। जीवाभयप्रदानस्य न कुर्वीरन् कलामपि ।। (श्रीमद्भागवत३/७/४१)

अर्थ:- भगवत्तत्त्वके उपदेश द्वारा जीव को जन्म-मृत्यु से छुड़ाकर उसे अभय कर देने में जो पुण्य होता है, समस्त वेदों के अध्ययन, यज्ञ, तपस्या और दानादि से होनेवाला पुण्य उस पुण्य के सोलहवें अंशके बराबर भी नहीं हो सकता।

प्रकाशकीय

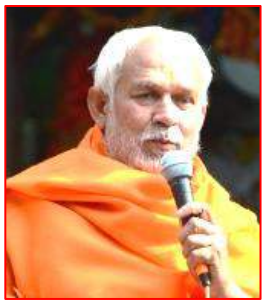

यद्यपि आज देश में ही नहीं सम्पूर्ण जगत में 'श्रीमद्भागवत सप्ताह ज्ञानयज्ञ' के माध्यम से लोककल्याण के मार्ग-प्रशस्ति का प्रयास हो रहा है, फिर भी निहित स्वार्थों के कारण यह प्रयास निरर्थक होता जा रहा है। 'भागवत-वक्ता कैसा होना चाहिए ?' यह 'श्रीमद्भागवत-माहात्म्य' में निर्देशित किया गया है –

विरक्तो वैष्णवो विप्रो वेदशास्त्रविशुद्धिकृत्।
दृष्टान्तकुशलो धीरो वक्ता कार्योऽतिनिःस्पृह॥ (श्रीभागवत-माहात्म्य ६/२०)

'भागवत-वक्ता' विरक्त वैष्णव, वेद-शास्त्र निष्णात एवं निःस्पृह होगा; तभी श्रोता को पूर्ण लाभ प्राप्त करा सकता है। ब्रज की विभूति पद्मश्री श्रीरमेशबाबामहाराज ने भी कदाचिद् 'श्रीमद्भागवत-सप्ताह' श्रवण कराकर ब्रजवासियों को धन्य किया था।

परिपक्व फल 'श्रीमद्भागवत' है जो शुकमुख-संयोग के कारण 'अमृतरस' से पूर्ण है, जिसमें रस के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है – **निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।**
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥ (श्रीभागवतजी १/१/३)

यह 'श्रीभागवतरसामृत' इस कलिकाल में भी सर्वसुलभ है परन्तु फिर भी मूढ़ जीव इसका आश्रय नहीं ले पाता है। अनन्त अन्धकार से आवृत जीव को यदि कहीं से प्रकाश-किरण की सम्भावना है तो भगवद्-रूप इसी 'श्रीमद्भागवत' के आश्रय से सम्भव है। ऐसे विरक्त जिन्होंने कभी भी जीवन में 'कंचन-कामिनी' का स्पर्श तक नहीं किया, उन महापुरुष द्वारा 'श्रीमद्भागवत-सप्ताह' का ऐसा चमत्कार देखने को मिला कि कितने ही संतों को, ब्रजवासियों को अथवा भागवत-प्रेमियों को उनकी उस अमोघ वाणी ने 'भगवद्रस-पिपासु' बना दिया। 'श्रीबाबामहाराज की वाणी' का आस्वादन हमारी पत्रिका के श्रोतागण भी कर सकें, इस उद्देश्य से उसके कुछ अंश प्रकाशित हैं। श्रीबाबामहाराज द्वारा कथित भागवत-कथा का पान करके अनेक ब्रजवासी बालक-बालिकाएँ आज देश-विदेश में निष्काम भाव से कथा-वाचन कर रहे हैं।

'कथा' कोई व्यापार का साधन नहीं है जिससे अर्थोपार्जन और प्रतिष्ठा जैसी सूकरी-विष्ठा का पान किया जाए। वास्तव में 'भागवत-कथा' के कथन-श्रवण का तो यथार्थ फल यही है कि शुकदेवजी जैसा दर्शन हमें मिल जाए ...!!

प्रबन्धक
राधाकान्त शास्त्री
श्रीमानमंदिर सेवा संस्थान ट्रस्ट

कृष्णप्रेम की प्रतिमूर्ति 'गोपिकाएँ'

बाबाश्री के सत्संग (८/८/२००२) से संकलित

भीष्मजी रास में गोपियों की स्थिति के बारे में कहते हैं –

ललितगतिविलासवल्गुहासप्रणयनिरीक्षणकल्पितोरुमानाः|
कृतमनुकृतवत्य उन्मदान्धाः प्रकृतिमगन् किल यस्य गोपवध्वः ॥

(श्रीभागवतजी १/९/४०)

गोपियाँ कृष्ण बन गयीं। 'यस्य' माने जिन श्रीकृष्ण की प्रकृति बन गयीं; अब वे गोपी नहीं रहीं; ऐसा 'प्रेम' ऐसा 'समर्पण' आज तक नहीं हुआ। गोपियों के बारे में ऐसा भीष्मजी ने क्यों कहा ? इसलिए कहा क्योंकि ऐसी अद्भुत प्रेममयी गोपियों की स्थिति थी –

गतिस्मितप्रेक्षणभाषणादिषु प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तयः ।
असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिका न्यवेदिषुः कृष्णविहारविभ्रमाः ॥

(श्रीभागवतजी १०/३०/३)

गोपियाँ कहने लगीं – **'असावहं'** – ये मैं कृष्ण हूँ; इसीलिए श्रीशुकदेवजी ने कहा कि 'गोपी' गोपी नहीं रहीं। इसको लीला दृष्टि से देखिये तो आपको समझ में अधिक आएगा, सरलता प्रतीत होगी और रस भी आयेगा कि 'गोपी' गोपी नहीं हैं। जैसा कि रसिकों ने कहा है –

"नायक तहाँ न नायिका रस करवावे केलि"

वहाँ एकमात्र 'रस' ही बचता है, न गोपी हैं, न कृष्ण हैं; एकमात्र शुद्ध रस की प्रतीति होती है।

उसी तरह से एक लीला देखिये – गोपी दही बेचने जा रही है। बेचना दही है, यह बहाना लेकर चली है और वृत्तियाँ ऐसी समर्पित हो चुकीं हैं कि न वह गोपी है, न कृष्ण है, एक शुद्ध राग की मूर्ति जा रही है, कहना चाहिए – 'दहो ले लो, दही ले लो' किन्तु गोपी को देहानुसंधान नहीं है, अपनी वृत्तियों का अनुसन्धान नहीं है, वह कहती है – 'कोई कृष्ण को खरीद लो, कृष्ण को खरीद लो।' यह एक ऐसी लीला है जिसको हम जैसे संसारी लोग नहीं समझेंगे और कहेंगे कि यह गोपी पागल हो गयी है क्योंकि कृष्ण को बेच रही है; यह क्या बात है ? क्या मटकी के भीतर कृष्ण भरे हैं ? मटकी में तो दही है, इसलिए उसे कहना चाहिए दही ले लो किन्तु कहती है कि कृष्ण को खरीद लो, होश नहीं है; मटकी में से दही छलकता जा रहा है। 'दही' से गोपी की साड़ी और चोली भीज रही है किन्तु 'गोपी' को इसका कोई भान नहीं है, वह तो यही कहती है – 'कोई कृष्ण को खरीद लो।'

"कोऊ माई लैहो री गोपालहि ।"

'दही ले लो' कहना भूल गयी क्योंकि संसारी वृत्तियाँ 'कृष्ण' बन गईं हैं; 'कृष्णरस' ऐसा ही है जिसके आने से कुछ भी याद नहीं रहता है, केवल कृष्ण-स्मृति रहती है; इसीलिए गोपी के मन में एकमात्र कृष्ण ही समाए हुए हैं, मटकी में दही है किन्तु दही विस्मृत हो गया है चित्त से। कैसी विचित्र लीला है !!!

"दधि को नाम श्यामसुंदर रस, बिसर गयो ब्रजबालहि ।"

यह पागलपन नहीं है, यह कृष्णरस है। जब कृष्णरस आता है तो चित्त में कुछ बचता नहीं है, **"इतररागविस्मारणम्"** हो जाता है। समस्त राग लोप होने से सर्वापहारी लोप हो जाता है, उनके संस्कार भी नहीं रहते, इसको 'कृष्णप्रेम' कहते हैं। क्या कहना चाहिए, क्या नहीं कहना चाहिए, इसका गोपी को कुछ भी अनुसन्धान नहीं है; वह रस की बातें कहने लगी जो उसको नहीं कहना चाहिए था। एक शायर ने कहा है –

मस्ते शराब होकर, सब राज खोल डाले ।
क्या जाने बेखुदी में, क्या-क्या हैं बोल डाले ॥

गोपी के बाल, नेत्र, कपोल, वक्षःस्थल आदि सभी अंग दही के छलकने से भीग गये हैं। कैसी विचित्र स्थिति और क्या छटा है ! कैसा अद्भुत प्रेम है !! कैसी रस की डूबन है !!! गोपी जा अवश्य रही है किन्तु कौन जा रहा है, कैसे जा रहा है, कहाँ जा रहा है, ये सब कुछ उसे पता नहीं है। श्रीराधासुधानिधिकार का एक विचित्र श्लोक है –

"अमन्द प्रेमाङ्क श्लथ सकल निर्बन्ध हृदयम्"

(श्रीराधासुधानिधि – ५१)

जिस तीव्र प्रेम के आगे समस्त वृत्तियों के निर्बन्ध ढीले पड़ गये। ढीले क्यों पड़ गये, उन्हें समाप्त हो जाना चाहिए; वे यदि बिल्कुल समाप्त हो जायेंगे तो लीला कैसे होगी ?

'निर्बन्ध' इसलिए ढीले पड़ गये क्योंकि जो त्याज्य अंश था, वह चला गया; संसारी राग चला गया, बाकी लीला चल रही है। दही बेचने वाली गोपी को कृष्ण से मिलना है, जितनी वृत्तियाँ आवश्यक हैं, वे विद्यमान हैं; बाक़ी चली गयीं। इसलिए कहा गया – **'श्लथ'** अर्थात् ढीली पड़ गयीं। यह अद्भुत प्रेम है, इसको कृपा से ही समझा जा सकता। गोपी के अंगों के चारों ओर से, जैसे - कानों से, हाथ की भुजाओं से 'दही' चू-चूकर बह रहा है परन्तु उसको कुछ देहानुसंधान नहीं है।

"उफनत तक्र चहूँ दिशि चूअत"

दही फ़ैल रहा है और गोपी को पता नहीं पड़ा। अगर पता पड़ जाए तो फिर क्या बात रही ? क्योंकि मन तो यहाँ है नहीं। 'वृत्तियाँ' मन में ही आती हैं, हमारे अन्तःकरण में चार वृत्तियाँ होतीं हैं – मन, बुद्धि, चित्त अहंकार। 'मन' है संकल्पात्मक-वृत्ति, 'बुद्धि' है निश्चयात्मक-वृत्ति, 'चित्त' है स्मरणात्मक-वृत्ति, 'अहं' है अनुभवात्मक-वृत्ति । अब गोपी की चारों वृत्तियाँ 'कृष्ण' में चली गयीं तो फिर दही का अनुभव कौन करेगा ? जो अनुभवात्मक-वृत्ति है, वह भी चली गयी है। महारास के प्रसंग में गोपियों की स्थिति के बारे में श्रीशुकदेवजी ने कहा है – **"असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिका"** 'मैं गोपी हूँ' उनकी यह वृत्ति भी समाप्त हो गयी। इसलिए वह कौन है जो सोचेगी कि मैं भीग रही हूँ; वह वृत्ति तो चली गयी कृष्ण में।

"उफनत तक्र चहूँ दिशि चूअत,
चित लाग्यो नन्दलालहि।"

इस दशा में गोपी 'दही' बेच रही है यानि 'कृष्ण' को बेच रही है; मन कृष्ण में है, दही चू रहा है, गोपी भीग गयी है परन्तु उसको अनुभव हो रहा है 'कृष्ण' का। रास्ते का कुछ अनुभव नहीं हो रहा है कि कहाँ जाना है ? महापुरुषों के अन्य पदों में ऐसा वर्णन मिलता है कि एक गोपी कहती है कि यहाँ कौन दही खरीदेगा ? इसलिए गोपियाँ दधि-विक्रय के लिए निबिड़-कुंज में जा रही हैं। क्या लतायें और वृक्ष दही खरीदेंगे ? क्या वन के मोर दही खरीदेंगे अथवा वृन्दावन के तोता-मैना दही खरीदेंगे ? वन में कौन दही खरीदेगा; लेकिन जहाँ वृत्ति है, वह (कृष्ण) तो है, उसका अनुभव हो रहा है; ऐसी तदाकारता होती है तो अनुभव होता है। गोपी को अनुभव हुआ कि 'कृष्ण' आ गये हैं, अपने प्यारे को देखकर वह मुस्कुराती है और फिर क्रोध करती है कि तुम इतनी देर में आये; क्रोध करने के बाद कहती है कि अरे ! मैंने तुमको डाँट दिया, तुम तो मेरे बड़े प्यारे हो, अपने प्यारे को डाँटना तो नहीं चाहिए। अच्छा, बुरा मत मानना; मैंने तुमको डाँट दिया, यह मेरी भूल है। आओ...आओ... अरे ! तुम तो आने लगे... रुको-रुको... कोई देखेगा नहीं ...।

<u>गोपी की सारी वृत्तियाँ 'कृष्ण' में इस प्रकार लीन हैं कि कृष्ण की आवश्यकता ही नहीं है, स्वतः ही उसे अनुभव हो रहा है।</u> **"हँसत रिसात बुलावति बरजति"** ये सब उलटी क्रियायें हैं – हँसना भी, क्रोध करना भी; फिर बुलाना और रोकना भी कि नहीं-नहीं...आगे मत आओ; क्योंकि गोपी लाजवती है; इस तरह सारी विपरीत क्रियायें एक साथ हो रहीं हैं; ऐसी विचित्र दशा होती है इस प्रेम में –

"हँसत रिसात बुलावति बरजति, देखहु उलटी चालहि।"

देखो, सब उलटी क्रियायें हो रहीं हैं, इन्हें कौन समझ सकता है, कोई नहीं समझ सकता।

प्रश्न उठता है कि गोपी इस जंगल में कब तक घूमेगी तो सूरदासजी बोले कि कुछ पता नहीं कब तक घूमेगी ?

"कब की दह्यौ लियो सिर डोलै"

इस सम्बन्ध में बड़े-बड़े पद हैं, किसी ने गोपी से कहा कि तुझे इसी लता के नीचे खड़े-खड़े सबेरे से शाम हो गयी। अरी पगली ! सारा दिन बीत गया, क्या यह लता तेरा दही खरीदेगी जो तू इसके पास खड़ी दही बेच रही है लेकिन वास्तविकता यह है कि गोपी वन में गयी है किन्तु न वह दही बेचने वाली है और न उसके लिए वहाँ लता है; यह तो एकमात्र रस है जिसमें वह पूर्णतया डूबी हुई है।

"सूर श्याम बिन और न भावै, या बिरहिनि बेहालहि।"

यह इस प्रकार का प्रेम है जिसको समझा नहीं जा सकता, जिसमें सब विपरीत चालें हैं; ये कहा जाये कि गोपी बिलकुल भूल गयी है अथवा उसे कुछ याद है, इसका कुछ पता नहीं पड़ता; यह प्रेम की विचित्र कहानी है। यों समझिये कि यह एक आस्वाद है, जैसे - हम खीर खाते हैं

तो 'खीर खाने वाला, परोसने वाला और खीर' ये अलग-अलग मालूम पड़ते हैं; ऐसा तो हम लोगों का अनुभव है किन्तु एक ऐसी स्थिति आती है जब 'खाने वाला' अपने को भूल गया, परोसने वाले को भूल गया और खीर को भूल गया, रह गया केवल आस्वाद यानि खीर का जो आनन्द था। इतनी ऊँची भूमिका का जो प्रेम है, जहाँ केवल रस और रस का आस्वाद रहता है। यही लीला विरह में भी होती है। इसीलिए यह 'प्रेम' मिलन और विरह से भी विलक्षण है, इसको महापुरुषों ने अनेकों नाम दिए हैं – किसी ने प्रेम-वैचित्री कहा, किसी ने भ्रमाभा कहा, किसी ने प्रेम-वैलक्षण्य कहा अर्थात् न वहाँ मिलन है, न विरह है, है तो केवल विशुद्ध प्रेम; वह चमचमाता रहता है।

रासलीला में श्यामसुन्दर के अन्तर्धान होने पर गोपियाँ कृष्णमयी हो गयीं। **'जगृहुस्तदात्मिकाः'** कृष्णमयी होकर वे कैसी हो गयीं ? **'प्रतिरूढमूर्तयः'** – ऐसा प्रतीत होता था कि ये गोपी नहीं हैं, सब की सब साक्षात् कृष्ण बन गयीं हैं, वे कहने लगीं – मैं श्रीकृष्ण हूँ **'असावहम्'**।

वे सब परस्पर मिलकर श्रीकृष्ण के गुणों का गान करने लगीं और उन्मत्त-सी होकर एक वन से दूसरे वन में जाकर श्रीकृष्ण को ढूँढ़ने लगीं। लौकिक प्रेम में ही पागलपन उत्पन्न हो जाता है, फिर यह तो अलौकिक प्रेम है, इसके बारे में क्या कहा जाए ? श्रृंगाररस के दो पक्ष होते हैं – वियोग व संयोग। जैसे संप्रलम्भ (संयोग) को श्रृंगार माना गया है, वैसे ही विप्रलम्भ (वियोग) को भी श्रृंगाररस माना गया है; इसीलिए श्रृंगाररस को रसराज माना गया है, इसके दोनों पक्षों में पूर्णता है, श्रृंगाररस पूर्ण है। बाकी जितने रस हैं, वे एक पक्षीय हैं। गोपियाँ जो कुछ कह रहीं हैं, वे केवल भावुकता में नहीं कह रहीं हैं। लताओं-वृक्षों से कृष्ण का पता पूछती हुई गोपियाँ कृष्णमय बन गयीं। जैसे – 'ध्याता, ध्येय और ध्यान' यह त्रिपुटी होती है, इस त्रिपुटी का सविकल्प समाधि में तो भेद है किन्तु निर्विकल्प समाधि में तीनों एक हो जाते हैं - ध्याता, ध्येय और ध्यान में ध्याता और ध्यान मिटकर ध्येय बन जाते हैं। निर्विकल्प समाधि में योगियों की त्रिपुटी एक होती है, उनकी समाधि नेत्र बंद करने पर होती है तथा वह सुषुप्त समाधि है, जबकि गोपियों की श्रीकृष्ण- विरह में जागृत समाधि लग गयी। यहाँ पर श्रीकृष्ण तथा उन्हें ढूँढ़ने वाली गोपियाँ, ध्याता गोपियाँ तथा ध्येय श्रीकृष्ण और ध्यान, तीव्र प्रेम की स्थिति में ध्याता और ध्यान तो गायब हो गये और सब गोपियाँ 'श्रीकृष्ण' बन गयीं। आँखें बंद करके योगी लोग जो समाधि लगाते हैं, तो आठवीं स्थिति पर समाधि लगती है, नवीं स्थिति पर निर्विकल्प समाधि लगती है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा आदि करते-करते सविकल्प समाधि लगती है, इसके बाद बड़ी कठिनाई से निर्विकल्प समाधि तक पहुँचते हैं। परन्तु यहाँ गोपियों के नेत्र खुले हुए हैं फिर भी इनकी वास्तविक समाधि लगी है, सभी गोपियाँ श्रीकृष्णमयी बन गयीं, यह प्रेम की विचित्रता है; सभी गोपियाँ कृष्णमयी होकर कृष्ण लीला करने लगीं। यह अनुकरण लीला नहीं है, यह तो स्वतः अनुकरण हो रहा है, कृष्णमयी बन गयीं हैं वे। एक तो नाट्य रस में अनुकरण किया जाता है, जो अनुकारक होता है, वह अनुकरण के द्वारा अनुकार्य का अनुकरण करता है। वहाँ अनुकारक अनुकार्य नहीं बन सकता है, अनुकरण अवश्य करता है और यदि कहीं उसको भाव-समाधि लग जाती है तो भी वह अनुकार्य नहीं बन सकता है; इसीलिए गोपियों द्वारा जो लीला की गयी, वह अनुकरण लीला नहीं है, यह तो विरह में प्रेम की तरंग है, प्रेम की एक अवस्था है जो स्वतः उत्पन्न हो गयी है।

सूरदासजी ने कहा है – **ज्यों गूंगो गुड़ खाये अधिक रस,**
सुख स्वाद न बतावै हो रे।

किसी गूँगे को बढ़िया लड्डू दे दो और फिर उससे पूछो कि यह लड्डू कैसा है ? तो वह बोलकर तो स्वाद नहीं बता सकता, केवल औं ऽ ऽ औं ऽ ऽ ऽ करता है क्योंकि उसका तो केवल अनुभव ही किया जा सकता है; वैसे ही यह प्रेम है। बाहर तो केवल इतना ही जाना जा सकता है, इतना ही समझा जा सकता है कि जिसको 'गोपाल' अच्छा लग गया फिर उसको यह संसार तो क्या, उसके सामने सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का सुख रख दो किन्तु उसको कुछ भी अच्छा नहीं लगेगा। उसके सामने ब्रह्माण्ड का समस्त भोग रख दो तब भी उसको अच्छा नहीं लगेगा क्योंकि उसको 'कृष्ण का रस' मिल गया है। **जाको मन लाग्यो गोपालहि,**
ताहि और क्यों भावै हो रे।

इस विलक्षण प्रेम को पाने का और कोई उपाय नहीं है, जब श्रीजी की कृपा होती है, तभी यह मिलता है अन्यथा नहीं मिलता है।

श्रीकृपा-साध्य 'समर्पण-भाव'

बाबाश्री के सत्संग से संकलित

एकबार भारतवर्ष के एक प्रसिद्ध 'गीता के विद्वान्' से मेरी (श्रीबाबामहाराज की) भेंट हुई; वे प्रतिदिन 'श्रीमद्भगवद्गीता' पर ढाई घंटे व्याख्यान (प्रवचन) देते हैं। मैंने उनसे कहा कि गीता में भगवान् ने एक विचित्र बात कही है कि मुझमें अध्यात्म चित्त से समर्पण होना चाहिए, सच्चा समर्पण यही माना जाता है।

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥

(श्रीगीताजी ३/३०)

मैंने उन विद्वान् से पूछा कि यह 'अध्यात्म चित्त से समर्पण' क्या है ? यह मुझे समझ में नहीं आता। मैंने उनसे यह भी कहा कि मैं शास्त्रार्थ के लिए नहीं पूछ रहा हूँ, मैं तो केवल जिज्ञासा के कारण पूछ रहा हूँ; आप मुझे समझाइये।

उन विद्वान् ने उत्तर दिया कि 'अध्यात्म चित्त से समर्पण' यह है कि 'आत्मतत्त्व' को मनुष्य प्राकृत इन्द्रियों के द्वारा तो जान नहीं सकता। स्वतः के द्वारा स्वतः को जाना जा सकता है। उन्होंने 'करण, निरपेक्ष' आदि कई चीजें बतायीं कि इस तरह से 'अध्यात्म चित्त का समर्पण' होता है। मैंने उनसे कहा कि यह बात मेरी समझ में नहीं आती है। 'स्वतः से स्वतः को जानना' यानि 'आत्मबोध' अर्थात् अपने आप से अपने स्वरूप को जानना। यह ठीक है कि 'आत्मतत्त्व' को इन्द्रियाँ नहीं जान सकतीं हैं, बुद्धि नहीं जान सकती है। 'स्वतः से स्वतः को जानना' – ऐसा ज्ञानी लोग कहते हैं। यह ठीक है, ऐसा होता होगा किन्तु मेरा तो विचार यह है कि 'जीव' जान ही नहीं सकता है। स्वतः से स्वतः को 'जीव' नहीं जान सकता। जानने का एक ही तरीका है – **सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।**

(श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड -१२७)

वह 'भगवान्' जना देता है, तब 'जीव' जान सकता है; नहीं तो अपने आप 'जीव' नहीं जान सकता है। इस कलियुग में कहाँ ज्ञान है, कहाँ योग है, कहाँ तप है, कहाँ वैराग्य है ? ऐसा मुझे कहीं दिखाई नहीं पड़ता। अब 'अध्यात्म तत्त्व के समर्पण' का प्रसंग है तो वस्तुतः जीव समर्पण भी नहीं कर सकता। जीव तो इतना दुर्बल है कि कौन छोड़ सकता है अपनी आसक्तियों को ...। यदि हम साधु बन गये तो क्या शरीर की आसक्ति को छोड़ देंगे ...? शरीर तो सब जगह साथ जाता है। मैंने उन विद्वान् से कहा कि 'समर्पण' तो 'जीव' कर ही नहीं सकता। उन विद्वान् ने कहा कि जब 'जीव' समर्पण कर ही नहीं सकता तो फिर जो 'समर्पण' की बात कही जाती है, वह क्या है ? मैंने कहा कि 'जीव' समर्पण की तैयारी करता है, 'समर्पण' कर नहीं सकता है। जैसे - एक छोटा-सा बच्चा लड्डू खा रहा है, वह अपनी माँ के मुख की ओर लड्डू ले जाता है कि यह भी खा ले। माँ उसके दिए लड्डू को लेकर खा लेती है। बच्चे ने इस प्रकार लड्डू का समर्पण किया परन्तु वह समर्पण वास्तव में पूरा नहीं था क्योंकि लड्डू भी माँ का था, बच्चे का शरीर भी माँ का था; बच्चे के अन्दर भाव आया कि माँ इस लड्डू को खा ले। बच्चे के प्रेम को देखकर माँ ने अपने ही दिए लड्डू को बच्चे से लेकर खा लिया तो यह हो गया 'बच्चे का समर्पण' किन्तु यदि माँ बच्चे के दिए लड्डू को न लेती तो क्या होता ? क्या बच्चे का समर्पण पूर्ण होता ? नहीं होता। इसलिए मनुष्य तो समर्पण की तैयारी करता है, उसके अन्दर जब भाव आता है और प्रभु उसके भाव को स्वीकार कर लेते हैं तो यही 'समर्पण' हुआ। 'जीव' न तो समर्पण कर सकता है, न ही कुछ जान सकता है। जब उसके अन्दर सच्चा भाव आता है और उसके भाव को 'भगवान्' ग्रहण कर लेते हैं तो यही 'अध्यात्म चित्त का समर्पण' हुआ एवं उसकी पहचान हो जाती है – 'निराशीर्निर्मम'। जब मन भगवान् को समर्पित हो गया तो अब लड्डू आदि की कौन सोचेगा, पैसा और भोग की कौन सोचेगा ? इस प्रकार से 'सच्चा समर्पण' हो जाता है।

'व्रज' अर्थात् व्याप्ति; अत्यधिक व्यापक होने से ही श्रीराधामाधव युगल सरकार की परम माधुर्यमयी लीलारसभूमि को 'ब्रज' कहा गया।
"व्रजनं व्याप्तिरित्युक्त्या व्यापनाद् व्रज उच्यते ॥" (भा.माहा.स्क.पु. १/१९)

भजन में बाधक 'गृहासक्ति'

बाबाश्री द्वारा निःसृत 'श्रीभागवत-कथा' (फरवरी १९८५) से संकलित

श्रीकपिल भगवान् कहते हैं –

नरकस्थोऽपि देहं वै न पुमांस्त्यक्तुमिच्छति।
नारक्यां निर्वृतौ सत्यां देवमायाविमोहितः॥

(श्रीभागवतजी ३/३०/५)

यह जीव मोह के कारण घर, बेटा-बेटी, धन आदि को अपना माने बैठा है, जबकि ये अपने नहीं हैं। यदि यह जीव नरक में पहुँच जाता है, यहाँ 'नरक' से तात्पर्य है कि जैसे मल का कीड़ा होता है, उसे यदि मल से अलग कर दिया जाए तो वह छटपटायेगा और मर जाएगा।

भगवान् की ऐसी माया है कि यदि नरक में भी जीव को पटक दो तो थोड़े दिनों में यह वहाँ का अभ्यासी बन जाता है और उसी में सुखी होने लगता है, यही माया है। आज हम लोग बड़े दुःख में हैं, पराधीन हैं देह-गेह में आसक्त होने के कारण किन्तु हम लोग इसी में सुख माने हुए हैं कि यह हमारा पिण्ड (शरीर) कहीं नष्ट न हो जाए।

संत रामकृष्णपरमहंसजी अपने सत्संग में एक उदाहरण दिया करते थे – नदी के किनारे एक मालिन रहती थी, उसकी कोठरी में फूल ही फूल भरे रहते थे। नदी के उस पार एक भंगिन रहती थी, वह इस मालिन की सहेली थी; एक दिन वह कहीं दूर से आई, उसे अपने गाँव जाना था तो मालिन ने भंगिन से कहा कि आज रात तुम मेरी कोठरी में रुक जाओ; ऐसा कहकर उसने भंगिन को अपनी कोठरी में रुका लिया जिसमें फूल ही फूल भरे थे। अब भंगिन को रात भर नींद नहीं आई। उसके सिर में दर्द होने लगा फूलों की सुगंध के कारण। भंगिन के लिए तो 'फूलों की सुगन्ध' दुर्गन्ध है, उसने सोचा कि अब क्या करूँ, तो वह बाहर गयी, वहाँ पर वह अपनी मल साफ़ करने वाली टोकरी रख आई थी, उस टोकरी को लाकर उसने अपने मुख पर ढँक लिया, अब उससे जो मल की दुर्गन्ध आयी तब भंगिन को नींद आई और वह सुख से सो गई।

भगवान् इसीलिए कह रहे हैं कि यह जीव ऐसा ही है, हम सब लोग उसी भंगिन के समान हैं। जो मनुष्य जहाँ भी रहता है, जैसे - कोई दिल्ली में रहता है, कोई बम्बई में रहता है, कोई कलकत्ता में रहता है और सभी लोग ब्रज में आना चाहते हैं लेकिन जब ब्रज से वे अपने घर में पहुँचते हैं तो बड़े सुखी होते हैं और कहते हैं कि हम अपने घर में आ गये, आराम से वे अपने कमरे में सुखी हो जाते हैं जबकि कहते हैं कि 'ब्रज' में रहना चाहिए, 'ब्रज' हमारा घर है लेकिन जब अपने घर में पहुँचते हैं तब चैन की साँस लेते हैं; नरक में पड़े हैं लेकिन उसको छोड़ना नहीं चाहते हैं, ऊपरी तौर से कहते रहते हैं कि हम तो 'ब्रज' में मरेंगे, 'ब्रज' में जियेंगे लेकिन उनको नरक ही प्यारा लगता है; यह माया है। मनुष्य बात बनाता है लेकिन नरक को, नारकीय सुखों को छोड़ना नहीं चाहता क्योंकि वह अपनी नारकीयता में ही मस्त है, इसी का नाम माया है।

एकबार ब्रज के प्रसिद्ध संत श्रीप्रियाशरणजीमहाराज के पास आगरा से एक व्यक्ति आया और बोला कि महाराजजी ! मैं ब्रजवास करना चाहता हूँ और ऐसा कहकर वह रोने लगा। महाराजजी ने उससे पूछा कि तुम आगरा में क्या करते हो तो वह बोला कि मेरा मकान है और यदि मकान ब्रज-वृन्दावन में होता तो मैं वृन्दावनवास कर लेता। महाराजजी ने पूछा कि मकान कितने का है ? तो वह बोला कि पचास हजार रुपये का है। (बहुत पुराने जमाने की बात है, तब पचास हजार रुपये बहुत होते थे।) श्रीबाबा ने कहा कि आगरा के मकान को बेचकर वृन्दावन में मकान खरीद लो; तब वह व्यक्ति बोला कि यहाँ ३५ हजार में बिक रहा है, १५ हजार का नुकसान है। बाबामहाराज ने कहा कि तू १५ हजार के नुकसान की सोच रहा है, बीस हजार का भी नुकसान हो जाए तो भी 'ब्रज' जैसे अमूल्य धाम की प्राप्ति तो तुझे हो जाएगी लेकिन तेरी आसक्ति तो मकान में है, इसलिए आसक्ति वाली चीज को लाकर 'ब्रज' में रख दे तो स्वतः तेरा 'ब्रजवास' हो जाएगा लेकिन तुझे 'ब्रज' नहीं चाहिए, तुझे तो पैसा चाहिए; ऐसे में तू 'ब्रजवास' नहीं कर सकता।

श्रीभागवतजी '३/३०/५' में इसीलिए कपिल भगवान् ने कहा है कि देवमाया के कारण जीव को नरक में रहना अच्छा लगता है, जैसे – भंगिन को फूल की कोठरी में दुर्गन्ध आ रही थी और मल की टोकरी मुख पर रखने से सुगन्ध का अनुभव हुआ; ऐसे लोगों के लिए ब्रजभूमि नहीं है। मूढ़ पुरुष जब घर में जाता है तो इसके सामने इसकी पत्नी हँसती हुई आती है, उसे देखते ही यह प्रसन्न हो जाता है। स्त्री-बच्चों की आसक्ति से बँधकर जीवन भर मनुष्य उनका पालन-पोषण करता हुआ वृद्ध हो जाता है, वृद्धावस्था में खाट पर पड़ा रहता है और तरह-तरह के मनोरथ करता रहता है, फिर थोड़े दिनों में इसकी मृत्यु हो जाती है। जो मूढ़ पुरुष इन्द्रियों को न जीतकर निरंतर अपने परिवार के ही पालन-पोषण में लगा रहता है, वह रोते हुए परिवारी जनों के बीच अत्यंत कष्ट से अचेत होकर मृत्यु को प्राप्त होता है। उस समय उसको लेने के लिए अत्यन्त भयंकर यमदूत आते हैं और उसके सूक्ष्म शरीर को बाँधकर नरक में ले जाते हैं, वे यमदूत उस जीव से कहते हैं कि तू न तो विरक्त हो पाया, न कुछ छोड़ पाया; अब हम तुझे माया से छुड़ाते हैं, ऐसा कहकर भयानक अनेकों तरह की यातनाएँ देते हैं। इसीलिए गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं –

ममता तू न गयी मेरे मन ते।
अंतहि तोहि तजेंगे पामर, तू न तजे अबही ते॥

यह जीव जीते-जी 'ममता-मोह' को नहीं छोड़ेगा, जब अंतकाल में यमदूत आकर छुड़ायेंगे तभी छोड़ेगा। इसीलिए गोस्वामीजी कहते हैं कि यदि तू पहले ही 'मोह-ममता' छोड़ देता तो प्रभु की शरण में जाता, लेकिन पहले कैसे छोड़ेगा ? जब यमदूत आकर शरीर पर कोड़े बरसायेंगे, खाल खींचेंगे तब 'ममता-मोह' छोड़ेगा। 'यमदूत' जीव को पकड़कर नरक में ले जाते हैं। यमलोक का मार्ग ९९ हजार योजन का है, इतने लम्बे रास्ते को दो-तीन मुहूर्त में ही तय करके जीव को यमदूत खींचते हुए ले जाते हैं, वहाँ उसके शरीर को धधकती हुई लकड़ियों के बीच में डालकर जलाया जाता है, कहीं उसके ही माँस को काट-काटकर 'यमदूत' उसे खिलाते हैं। नरक में जीव को 'यातना-शरीर' मिलता है, उस यातना-शरीर के द्वारा ही जीव को भयंकर यातनायें दी जाती हैं, वहाँ उसे बहुत कष्ट मिलता है; ऐसा क्यों होता है ? तो कपिल भगवान् कहते हैं – **"भूतद्रोहेण यद् भृतम्"** (श्रीभागवतजी ३/३०/३१)

हर आदमी दूसरों से द्रोह करके अपने शरीर को पालता है; दो पड़ोसी हैं, वे आपस में लड़ते हैं, क्योंकि एक के पास 'एक हाथ जमीन' ज्यादा है, अधिक धन है, इसलिए द्वेष करते हैं। ज्यादा-कम क्या होता है, मृत्यु आने पर दोनों को ही सब कुछ यहीं छोड़कर जाना पड़ेगा। इसलिए 'भगवान्' का भजन करो। उसको इतनी आमदनी हो रही है, हमें कम हो रही है, यह सब भूतद्रोह है। तामिस्र, अन्धतामिस्र तथा रौरव आदि नरकों में भयंकर यातनायें भोगकर 'जीव' फिर से मनुष्य-योनि में जन्म लेता है।

'भोग' अंत में सदा ही दुःखदायी है, चाहे कोई आदमी समझे कि हम धर्मपूर्वक 'भोग' भोग रहे हैं तो भी भोग आसक्ति में डालने वाला है, अतः वह जहर ही है। ऋषि कर्दमजी कह रहे हैं कि <u>'भगवान्' कभी नहीं चाहते कि मेरा भक्त इन्द्रियों के भोगों में डूबे।</u> (यह कर्दमजी की घोषणा है।) भले ही धर्मपूर्वक विवाहिता स्त्री के साथ भोग हो, 'भगवान्' नहीं चाहते कि मेरा भक्त इसमें गोता लगाए, यह धोखा है। स्पष्ट रूप से कर्दमजी कह रहे हैं –

नैतद्वताधीश पदं तवेप्सितं
यन्माययाऽनस्तनुषे भूतसूक्ष्मम्।

(श्रीभागवतजी ३/२१/२०)

'स्थूल भोग' से ऊपर है योगियों का सूक्ष्म भोग, प्रभु नहीं चाहते कि हमारा भक्त उसे भी ग्रहण करे परन्तु हे प्रभो ! एक बात अवश्य है कि जो आपका दिया हुआ भोग है, उसका ऐसा विलक्षण प्रभाव होता है कि उससे नारकीयता नहीं मिलती।

देखो – 'भोग' भोग में अंतर होता है। गह्वरवन के सिद्ध संत पंडित हरिश्चंद्रजीमहाराज बताते थे कि भगवद्भक्तों को ईश्वर-इच्छा से भोग की प्राप्ति होती है। यह महापुरुषों की बात है, हम लोगों की बात नहीं है; हम लोग तो कीड़े-मकौड़े हैं, अपने ऊपर यह बात नहीं लगानी चाहिए। 'भक्तों' को जिस भोग की प्राप्ति होती है, वह परिणाम में

उनके लिए और जिस जीव में उनकी आसक्ति होती है, दोनों को ईश्वर की प्राप्ति अर्थात् भक्ति की प्राप्ति होती है।

इसीलिए कर्दमजी कह रहे हैं कि हे प्रभो ! आपका दिया हुआ जो भोग है, वह हमें आपकी प्राप्ति कराने वाला है क्योंकि मुझे आपका दर्शन प्राप्त हो रहा है।

सब लोगों को यह नहीं सोचना चाहिए कि हमें भी ईश्वर-प्रदत्त भोग मिल रहा है; यह तो उनकी बात है, जिन्हें साक्षात् प्रभु का दर्शन हो रहा है। यदि हम लोग इसे अपने ऊपर घटायेंगे तो बड़ा अनर्थ हो जाएगा। अपनी हैसियत हमें समझ लेना चाहिए। यह तो महापुरुषों की बात है क्योंकि महापुरुषों के बारे में यदि हम लोग ऐसा नहीं समझेंगे तो अपराध कर बैठेंगे। पराशर आदि बड़े-बड़े मुनियों को भी भोग-प्रवृत्त होते हुए देखा गया है किन्तु यदि उनके भोग को ईश्वर-प्रदत्त नहीं मानेंगे तो अपराध कर बैठेंगे और अपने ऊपर घटायेंगे तो नष्ट ही हो जायेंगे।

बड़े लोग छोटों की प्रशंसा इसलिए करते हैं ताकि तुम भी ऐसे अच्छे बनो। मान लो तुम किसी महात्मा से मिलने गये और उन्होंने कहा – "अरे ! आप तो बड़े भक्त हैं और आपके घर में भी सब लोग बड़े भक्त हैं।" इस प्रशंसा के कारण यह मत समझो कि वास्तव में हम भगतजी हैं। इसे ऐसा समझो कि इन संतजी ने कहा है कि तुममें कुछ भी भक्ति नहीं है, कुछ तो भक्त बनो, अपनी पत्नी और बच्चों को कुछ तो भक्तिमार्ग पर चलाओ; ऐसा समझना चाहिये।

देखो, जीवन दो प्रकार से बीतता है – एक तो 'यातयाम' और दूसरा 'अयातयाम'। 'यातयाम' को ऐसा समझो कि जैसे तुमने खीर बनायी और खीर बनाकर उसे रख दिया, यदि तुमने उस खीर को ठीक समय पर खा लिया तब तो ठीक है और यदि तुमने उसे दो दिन पीछे खाया तो खीर बिगड़ जाएगी और वह 'यातयाम' हो जाएगी क्योंकि उसका 'खाने का समय' तो बीत गया, वह जहर बन गयी। 'घी' भी यदि दस-बीस साल पुराना है तो वह जहर है, उसे खाकर मर जाओगे; इसे कहते हैं 'यातयाम' जिसका समय बीत गया और 'अयातयाम' उसे कहते हैं जिस वस्तु को समय पर खा-पी लिया, उसका सदुपयोग कर लिया। श्रीभागवतजी (३/२२/३५) में बताया गया है कि या तो कृष्ण को गाओ या तो कृष्ण को सुनो या कृष्ण का ध्यान करो, वह तो है 'अयातयाम', यानि तुम्हारा समय नष्ट नहीं होगा; इसके अतिरिक्त जितने भी कार्य हैं, वे हैं 'यातयाम' यानि जो जीवन को नष्ट कर देते हैं।

जैसे – बहुत से लोग अखण्ड कीर्तन करते हैं, अखण्ड रामायण करते हैं, अखण्ड भागवत करते हैं, इसका रहस्य क्या है ? इसे समझो, यह प्रथा क्यों चलाई गई है ? इसका भाव यह है कि 'अखण्ड' जो वस्तु चल रही है, उसमें चार आदमी बैठेंगे, ड्यूटी करेंगे, दो आदमी कीर्तन कर रहे हैं, दो आदमी सो रहे हैं; उस समय जो आदमी सो रहे हैं तो उनका सोना भी 'भजन' माना जाएगा क्योंकि वे 'कृष्ण नाम' सुन तो रहे हैं। इसलिए यही भाव श्रीभागवतजी में बताया गया है – **अयातयामास्तस्यासन् यामाः स्वान्तरयापनाः।**
श्रृण्वतो ध्यायतो विष्णोः कुर्वतो ब्रुवतः कथाः॥

(श्रीभागवतजी ३/२२/३५)

चाहे श्रवण करो, चाहे ध्यान करो, चाहे कुछ बोलो - भगवान् का नाम या कथा; ये सब तुम्हारे जीवन को 'अयातयाम' बनायेंगे, इसीलिए तब से अखण्ड परिपाटी चली है। मनु महाराज का सम्पूर्ण समय भगवान् की कथा सुनने, ध्यान करने, सेवा करने और स्वयं कथा-कीर्तन करने में लगा रहता था; इसलिए उनका सारा समय 'अयातयाम' बीता; राजा को ऐसा ही होना चाहिए, फिर प्रजा अपने आप ही सात्विक बन जाएगी। चाहे कृष्ण को सुनो या कहो, इस तरह तुम्हारा सारा समय 'अयातयाम' हो जाएगा। इसलिए अखण्ड परिपाटी बड़ी सुन्दर है, इसे चलाना चाहिए। इस तरह मनुजी ने इकहत्तर चौकड़ी बिताई और इस तरह जो सतत् कृष्ण के पास में है, उसके पास कभी कोई क्लेश नहीं आ सकता है; लोगों को विश्वास करना चाहिए। बड़े-बड़े साधुजन अपने आश्रम में अखंड कीर्तन चलाते हैं तो थोड़े ही समय में उनके आश्रम का वैभव बढ़ता जाता है, इसे प्रत्यक्ष देखा जा सकता है, कहीं भी इसे करके देख लो, कुछ दिन इसको करके देखो और फिर इसका परिणाम देख लो। इस प्रकार जो मनुष्य सदा भगवान् के आश्रय में रहता है, उसे शारीरिक, मानसिक, दैविक, मानुषिक अथवा भौतिक क्लेश कभी बाधा नहीं पहुँचा सकते हैं (श्रीभागवतजी ३/२२/३७)।

असली त्याग 'अनासक्ति'

बाबाश्री के सत्संग (१/२/२०१०) से संकलित

हम लोग क्षणिक तृप्ति को ही तृप्ति मान लेते हैं। 'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गम्' - फलासंग अर्थात् जब आसक्ति मिटती है तब नित्यतृप्ति आती है, फिर उस समय 'मनुष्य' जीव का आश्रय ग्रहण नहीं करता है। हमारे गुरुदेव (बाबा प्रियाशरणजीमहाराज) आँखों देखी अपने जीवन की एक घटना सुनाते थे जब वे ब्रज में नये-नये ही आये थे। गोवर्धन के वन-प्रान्त में 'श्यामकुटी' नामक एक स्थान है, प्राचीनकाल में वह पूरा जंगल ही था; उस समय के साधुओं के भजन की रहनी भी अलग थी, ऐसा नहीं कि सुबह कलेऊ करो, फिर दोपहर को राजभोग करो और रात को पुनः भर पेट भोजन करो। बाबा (श्रीप्रियाशरणजीमहाराज) बताते थे कि उस समय के साधु सुबह तीन बजे से ही भजन करने के लिए बैठ जाते थे; इस प्रकार स्वयं उन्होंने तीस साल तक भजन किया था, सुबह तीन बजे भजन करने बैठते थे और संध्या को चार-पाँच बजे तक भजन करके उठते थे, वे अष्टयाम लीला की सेवा भावना करते थे; ऐसी भावना केवल भाषण देने से नहीं होती है। उस समय के साधुओं में भावना की एक रहनी होती थी, ऐसे साधु अब चले गये। अब तो केवल भाषण करने वाले साधु ही रह गये हैं। हम जैसे लोग केवल भाषण ही करते हैं। 'भावना' करने वाला साधु तो सुबह बैठ जाता है और फिर बारह-चौदह घंटे बाद ही उठता है। मन को बाहरी विषयों से बार-बार खींच-खींचकर अपने इष्ट में लगाता है। अब तो केवल बक्की पंडित ही रह गये हैं। हमारे बाबामहाराज संध्या को जब भजन करके उठते थे तो गाँव में मधुकरी करने जाते थे, वहाँ से मधुकरी लाकर दो-चार टुकड़े खाकर सो जाते थे; एक करुआ में जल रखते थे और प्यास लगने पर वही पी लेते थे, उसी से चौबीस घंटे व्यतीत करते थे। ऐसा करने पर अर्थात् सतत चिंतन से 'भावना' सिद्ध होती थी। श्रीबाबा (प्रियाशरणजीमहाराज) बताते थे कि हम ब्रह्ममुहूर्त में ही भावना करने बैठ जाते थे और संध्या को उठते थे; एक दिन हमने देखा कि बनियान पहने एक बहुत लम्बा आदमी सुबह से ही श्यामकुटी में आ गया और बहुत जल्दी-जल्दी माला घुमाते हुए भजन कर रहा था। उस समय बाबा ने अपने गुरुदेव पंडित बाबा (श्रीरामकृष्णदासजीमहाराज) से पूछा कि यह व्यक्ति कौन है ? तो वे बोले कि इनसे मत बोलो, ये ठाकुर साहब हैं। उस समय जमीदारी प्रथा थी, 'ठाकुर साहब' अपने गाँव के मालिक थे, उन्हीं का मकान गाँव में सबसे बड़ा था, उनकी चौपाल पर लोग एकत्रित हुआ करते थे, उनके तीन पुत्र थे। पहले दो पुत्रों का विवाह हुआ तो बहुएँ ठीक आयीं। तीसरे सबसे छोटे पुत्र का विवाह हुआ तो उसकी बहू चंचल थी। बार-बार दरवाजे पर खड़ी हो जाती थी। उस समय ठाकुर साहब नीचे चौपाल से ही उसको डाँटते थे – "ए ऽ ऽ भीतर जा ... दरवाजे पर क्यों खड़ी होती है ?" अपने ससुर की फटकार सुनकर बहू घर में जाकर अपने पति और सास के पास जाकर झूठे आँसू बहाते हुए रोने लगती थी और शिकायत करती थी कि ये पिताजी तो मेरे पीछे ही पड़ गये हैं ... मैं तो वैसे भी दरवाजे पर खड़ी नहीं होती हूँ लेकिन उधर से निकलती हूँ तब भी ये मुझे टोकते हैं। स्त्री-चरित्र बड़ा विचित्र होता है, ये आँसू बहाते हुए रोकर के विश्वास दिला देती हैं। जब ऐसा उनके घर में कई बार हुआ तो ठाकुर साहब की पत्नी एक बार चौपाल पर गयी और अपने पति से बोली – क्यों जी, तुम तो बहुत भजन करते हो, फिर बेटा-बहू के पीछे क्यों पड़े रहते हो ? ठाकुर साहब बहुत भजन करते थे, वह भक्त थे, साधु-सेवा भी किया करते थे; उन्होंने अपनी पत्नी से कहा कि मैं बहू-बेटे का क्या अनर्थ करता हूँ ? पत्नी बोली – "अरे, तुम छोटी बहू को रोज डाँटते रहते हो।" ठाकुर साहब बोले – "क्या यह कोई गलत बात है ? उसे दरवाजे पर नहीं खड़े होना चाहिए।" पत्नी बोली – "वह बेचारी वहाँ खड़ी कहाँ होती है, तुम तो उसके पीछे ही पड़ गये हो।" ठाकुर साहब अपनी स्त्री से बोले – "अच्छा, तुमको भी मेरी बात बुरी लग रही है।"

ठाकुर साहब की पत्नी बोली – "बुरा लगने की बात ही है, तुम हमेशा बहू के पीछे पड़े रहते हो, वह बेचारी मेरे पास आकर रोती है, मुझसे देखा नहीं जाता है। बेटे को भी

तुम्हारा डाँटना बुरा लगता है किन्तु भय के कारण तुमसे कुछ कह नहीं पाता है, वह भी कहता है कि पिताजी इसके पीछे ही पड़ गये हैं, बुढ़ापे में उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है।" ठाकुरजी बोले – "तू जा, आज के बाद मैं उसे फिर कभी नहीं टोकूँगा।" अपने पति की बात सुनकर उनकी स्त्री चली गयी। ठाकुर साहब की चौपाल पर रात को गाँव के लोग उनसे मिलने आया करते थे। उस रात को जब लोग आये तो उन्होंने सबसे कहा कि मेरी तबियत खराब है; आप लोग जाइये, मैं अब सोऊँगा। उनकी बात सुनकर गाँव के सब लोग चले गये। वह जाड़े की रात थी। जब सब चले गये तो ठाकुर साहब उठे और घर छोड़ दिया। घर छोड़कर सीधे वे पंडित बाबा के पास उनके आश्रम में आये क्योंकि उनमें उनकी श्रद्धा थी। उस समय प्रियाशरणजीमहाराज कम उम्र के थे, नये-नये ही ब्रज में आये थे; ठाकुर साहब जब पंडित बाबा के आश्रम में आये तो उन्होंने पंडित बाबा से उनके (ठाकुर साहब के) बारे में पूछा। पंडित बाबा बोले – ये लम्बरदारजी हैं, इनसे कुछ मत बोलो, इनको वैराग्य हो गया है।

सुबह होने पर 'ठाकुर साहब' के घर के लोग ढूँढ़ने लगे कि लम्बरदारजी कहाँ चले गये ? गाँव के सभी लोग उनका बहुत सम्मान करते थे क्योंकि वे भक्त थे, उनको ढूँढ़ने के लिए सारा गाँव निकल पड़ा, कुछ पता नहीं पड़ा। कुछ दिनों बाद पता चला कि वे तो गोवर्धन में श्यामकुटी पर 'पंडित बाबा' के पास हैं। तब उनकी पत्नी उनके पास गयी, पुत्र भी आया, बहू भी आई, सारा गाँव आया। पत्नी रोने लगी और बोली कि घर चलो, मैं बहू को अलग कर दूँगी। ठाकुर साहब बोले कि अलग होने की बात नहीं है, मैं स्वयं ही अब घर में नहीं रहना चाहता, मैं तो अब भजन में ही जीवन बिताऊँगा; ठाकुर साहब पहले से ही भक्त थे। अतः ठाकुर साहब घर वापस नहीं गये जबकि सारा गाँव उन्हें वापस लेने आया था; वे बोले कि यह तो मेरे ऊपर भगवान् की कृपा हुई है ...।

श्रीकपिल भगवान् ने कहा है –

विसृज्य सर्वानन्यांश्च मामेवं विश्वतोमुखम्।
भजन्त्यनन्यया भक्त्या तान्मृत्यो रति पारये॥

(श्रीभागवतजी ३/२५/४०)

जो भक्त मेरे लिए अपना घर, धन, पशु तथा अन्य सभी वस्तुओं को छोड़ देते हैं, उन्हें मैं मृत्युरूप संसार सागर से पार कर देता हूँ। 'भगवान्' के लिए सब कुछ छोड़ना पड़ता है, तभी तो चैतन्य महाप्रभु ने कहा है –

"बिना सर्वत्यागं न हि भवति भजनं यदुपतेः।"

सर्वत्याग के बिना कृष्ण-भजन नहीं हो सकता है। भगवान् कहते हैं कि जो मेरे लिए सब कुछ छोड़ देता है, 'तान्मृत्योरतिपारये' उसे मैं अपने कंधे पर उठाकर मृत्यु के पार ले जाता हूँ, पार ही नहीं 'अतिपार' अर्थात् बड़े लाड़-प्यार से ले जाता हूँ।

हमलोग भगवान् को छोड़कर संसारी कामों में लगे रहते हैं – खाने-पीने, अच्छे-अच्छे वस्त्र पहनने, वस्त्रों को साबुन से धोने और शरीर को सजाने में लगे रहते हैं। प्रत्येक क्षण को श्रीकृष्ण का स्मरण करने में लगाना चाहिए, जीवन के अमूल्य समय को हम जैसे लोग मल-मूत्र के पिण्ड इस नश्वर शरीर के ही भरण-पोषण में ही बिता देते हैं; यह भगवान् का तिरस्कार करना ही तो है। श्यामसुंदर को छोड़कर हम लोग नारकीय कार्यों में फँसे हुए हैं। ब्रह्माजी कहते हैं – हे प्रभो ! जीव को संसार में तभी तक शोक है, भय है, जब तक वह आपके चरणों की छाया में नहीं आता है; इसलिए भगवान् की भावना हृदय में करो, कोशिश तो करो, अभ्यास करो, तुम्हारे हृदय में प्रभु अवश्य आयेंगे – **त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज**
आरुस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्।

(श्रीभागवत जी ३/९/११)

एकांत स्थान में बैठ जाओ, जरूरी नहीं कि जंगल में जाओ, अपने घर के कोने में एक-दो क्षण भावना करो।

'श्रुतेक्षितपथो' भगवान् से मिलने का रास्ता क्या है ? संतों के पास जाकर सुनो, सुनोगे तो भगवान् का स्वरूप समझ में आएगा, अब उसकी भावना करो, यदि भावना करोगे तो सच में तुम्हारे हृदय में भगवान् आ जायेंगे, भावना करो तो सही।

वास्तविक भक्ति 'संत-संग'

बाबाश्री द्वारा निःसृत 'श्रीभागवत-कथा' (फरवरी १९८५) से संकलित

येषां संस्मरणात् पुंसां सद्यः शुद्ध्यन्ति वै गृहाः ।
किं पुनर्दर्शनस्पर्श पादशौचासनादिभिः ॥

(श्रीभागवतजी १/१८/१८)

जिन संतों के स्मरण से ही गृहस्थों के घर पवित्र हो जाते हैं। संत घर में आयें, वह तो दूसरी बात है, संतों का केवल स्मरण ही कर लिया जाए तो इतने से ही घर पवित्र हो जाते हैं; इतनी संतों की महिमा है और वे संत यदि घर में आकर दर्शन दे दें तथा फिर उन्हें स्पर्श करने का अवसर मिल जाए, चरण धोने का अवसर मिल जाए तो हे महायोगिन् ! इस क्रिया से महान पापियों के महान पाप भी नष्ट हो जाते हैं।

कोई वेश्यापुत्र भी यदि सत्संग में पहुँच जाए तो वह भी पवित्र हो जाता है, सत्संग की ऐसी महिमा है। अधिकतर लोग खानदान देखते हैं कि अच्छे माता-पिता का पुत्र होना चाहिए किन्तु नहीं, यहाँ यह सिद्धान्त लागू नहीं होता है। लड़का किसी का भी है, देखना ये चाहिए कि उसका संग कैसा है, यदि उसका संग अच्छा है तब तो ठीक है और अच्छे कुल का लड़का होकर भी यदि बुरी संगति कर रहा है तो वह ठीक नहीं है।

महात्माओं से तो बात करने में ही कुल का दोष नष्ट हो जाता है, फिर जो लोग भगवान् का नाम लेते हैं, भगवन्नाम कीर्तन करते हैं, उनकी जो जाति-पाँति देखता है, वह तो महामूर्ख है। यह शास्त्र द्वारा निरूपित भक्तिमार्ग है, यहाँ जातिवाद का खण्डन नहीं किया जा रहा है क्योंकि श्रीमद्भागवत शास्त्र में ही इस सिद्धान्त का निरूपण किया गया है कि जो 'भगवद्भक्त' भगवान् का नाम-कीर्तन कर रहा है, भले ही वह जाति से शूद्र अथवा चाण्डाल है किन्तु वह पूज्य है, स्मरणीय-वन्दनीय है।

केवल एकबार संतों से बात कर लिया जाए, इतने से ही अपवित्र कुल में उत्पन्न होने का दोष नष्ट हो जाता है।

दौष्कुल्यमाधिं विधुनोति शीघ्रं
महत्तमानामभिधानयोगः । (श्रीभागवतजी १/१८/१८)

यह शास्त्र का सिद्धान्त है कि जो मनुष्य सत्संग करते हुए नाम-कीर्तन कर रहा है, उसके जाति-कुल का कोई दोष नहीं रह जाता है क्योंकि भक्ति की ऐसी ही महिमा है। जिन श्रीभगवान् के चरणकमलों की धोवन 'गंगाजी' त्रिलोकी को पवित्र करती हैं, उन भगवान् के अतिरिक्त और कौन पूज्य हो जाएगा ? सन्तजन उन्हीं भगवान् का भजन करते हैं –

यत्रानुरक्ताः सहसैव धीरा व्यपोह्य देहादिषु सङ्गमूढम् ।
व्रजन्ति तत्पारमहंस्यमन्त्यं यस्मिन्नहिंसोपशमः स्वधर्मः ॥

(श्रीभागवतजी १/१८/२२)

जिन भगवान् के चरणकमलों में मन को अनुरक्त करके लोग परम पद को प्राप्त हो जाते हैं, उनकी कैसी स्थिति होती है, वह है अहिंसा और शान्ति। भगवद्भक्त का परम लक्षण यही है कि वह किसी को सताता नहीं है, स्वयं सब कुछ सहन कर लेता है।

तिरस्कृता विप्रलब्धाः शप्ताः क्षिप्ता हता अपि ।
नास्य तत् प्रतिकुर्वन्ति तद्भक्ताः प्रभवोऽपि हि ॥

(श्रीभागवतजी १/१८/४८)

भगवद्भक्त तो वे हैं, जिनका यदि तिरिस्कार कर दो, उनको ठग लो, उनको शाप दे दो, उनको मार-पीट लो परन्तु वे बदला नहीं लेते हैं, उसको भक्त कहते हैं; सामर्थ्य होने पर भी वे बदला नहीं लेते हैं।

संसारी माँ-बाप क्या करते हैं ? यदि कोई उनके बेटा-बेटी को पीट दे तो उसको सिखाते हैं – अरे ! तूने उसको नहीं मारा, अरे ! तूने उसकी फटकार कैसे सुन ली, बदले में तूने उसे क्यों नहीं गाली सुनाई। इस तरह से आजकल के माँ-बाप मोहवश स्वयं अपने बच्चों को नष्ट करते हैं, उनको विनाश की बातें सिखाते हैं। जबकि पिता तो 'शमीक ऋषि' जैसा भगवद्भक्त होना चाहिए जिन्होंने अपने पुत्र को सिखाया कि बेटा ! कोई तुम्हें मारे तो उसको क्षमा कर दो, गाली दे तो उसे क्षमा कर दो।

"चिनोति आत्मनि भगवत्तत्वम्" सच्चे संत-महापुरुषों व भक्तजनों का चित्त 'श्रीकृष्ण' को इकट्ठा करता है। 'चिनोति आत्मनि श्रीकृष्णतत्त्वम्' – 'तत्त्व' से अभिप्राय श्रीकृष्ण तत्त्व है। इस हिसाब से महापुरुषों का चित्त भी चित्त है और हमारा चित्त भी चित्त है लेकिन इकट्ठा करने वाली जो वस्तु है, वह

अलग-अलग है। कोई 'हीरा' इकट्ठा कर रहा है और कोई 'मल-मूत्र' इकट्ठा कर रहा है।

'आसक्ति' आत्मा का अजर बन्धन है, ऐसा विवेकीजन मानते हैं – **प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः।**
स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम्॥

(श्रीभागवतजी ३/२५/२०)

जैसे 'स्त्री-पुरुष' की परस्पर कामासक्ति होती है, वह बन्धन है; किन्तु वही आसक्ति यदि संत-महापुरुषों में हो जाती है तो मोक्ष का दरवाजा खुल जाता है।

गड़बड़ी तभी होती है जब हम जैसे लोग अपने मल-मूत्र के शरीर को घोषित करते हैं कि हम महापुरुष हैं। आसुरी भाव में हम लोग जो महापुरुष होने का ढोंग करते हैं, गड़बड़ी वहीं से शुरू होती है। यह बात खोल के इसलिए समझाई जा रही है ताकि हम लोग महापुरुषों की महिमा को जानें, दुरुपयोग के लिए नहीं ऐसा कहा जा रहा है; इस बात को लोग छिपाते हैं, यह छिपाने की बात नहीं है; महापुरुषों की महिमा हमलोग नहीं जानेंगे तो भक्ति कैसे जानेंगे ? **"राम ते अधिक राम कर दासा॥"** महापुरुष की महिमा तो तुम्हें जानना ही होगा, इसे छिपाने से क्या होगा ? कपिल भगवान् कहते हैं कि साधु-संत कैसे होते हैं ? वे अजातशत्रु होते हैं, शांत होते हैं; हर समय मेरी कथा को सुनते और कहते हैं, वे कृष्ण-संग से इतर (बाहर) नहीं जाते हैं। जो व्यक्ति श्रीकृष्ण-स्मरण से इतर जाएगा, वह तो धोखा खा जाएगा, चाहे कोई आचार्य हो, चाहे गोस्वामी हो, कृष्ण-चर्चा से जो इतर है, उसका तो पतन निश्चित है। श्रीकपिल भगवान् 'भक्ति का लक्षण' बता रहे हैं – **देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्।**
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या॥

(श्रीभागवतजी ३/२५/३२)

यहाँ 'देवानाम्' का अर्थ है – इन्द्रियाँ, यद्यपि 'देव' शब्द का अर्थ होता है 'देवता'। हमारी जो ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ हैं, ये बिना कोशिश के 'श्रीकृष्ण' में लगी रहें, इसी का नाम भक्ति है। हमारा जो मन है तथा ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, जैसे - आँख से देखना, कान से सुनना, जीभ से बिना कोशिश के ही 'भगवन्नाम' निकलता रहे, जैसे गोपियों के बारे में लिखा है – **या दोहनेऽवहननेमथनोपलेप**
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥

(श्रीभागवतजी १०/४४/१५)

हर कार्य को करते समय बिना कोशिश के ही उनकी वाणी से हर समय कृष्ण गुणगान होता रहता था। हम लोगों को तो अभी भक्ति में मन लगाना पड़ता है कि इतनी देर माला करेंगे, इतनी देर कीर्तन करेंगे किन्तु ऐसा अभ्यास पड़ जाना चाहिये कि अपने आप जीभ सदा भगवन्नाम लेती रहे। कर्मेन्द्रियाँ भी अपने आप ही कृष्ण में लगें, मन भी अपने आप कृष्ण में लगे, उसका नाम 'भक्ति' है यानि लगाना न पड़े, स्वयं ही बिना प्रयास के 'कृष्ण' में मन लगा रहे, उसका नाम 'भक्ति' है। वल्लभाचार्यजी ने 'देवानाम्' का बड़ा सुन्दर अर्थ किया है, वे लिखते हैं कि जो इन्द्रियाँ कृष्ण में लगती हैं, वे तो देव हैं, वहाँ उन्होंने उपनिषदों का भी प्रमाण दिया है और जो इन्द्रियाँ कृष्ण में नहीं लग रही हैं, वे असुर हैं; इसीलिए यहाँ पर 'देवानाम्' लिखा है। ग्यारह इन्द्रियाँ हैं, अब यहाँ पर एक प्रश्न उठता है और यह आचार्यों ने लिखा है कि आँख से दर्शन करेंगे, कान से कथा सुनेंगे, वाणी से कीर्तन करेंगे, हाथ से सेवा करेंगे अर्थात् सभी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ तो 'कृष्णभक्ति' में लग जायेंगी किन्तु मल-मूत्र की इन्द्रिय 'भगवान्' की सेवा में कैसे लगेगी ? आचार्यजन कहते हैं कि मल-मूत्र की इन्द्रिय भी कृष्ण में लगेगी, कैसे लगेगी ? विष्णुधर्मोत्तरपुराण में लिखा है कि मल-मूत्र की इन्द्रिय यदि गड़बड़ करती है तो शरीर का स्वास्थ्य खराब हो जाता है; यदि शौच न हो तो दूषित हवा निकलती रहेगी और 'भगवान्' में भी मन नहीं लगेगा, इसलिए मल-मूत्र की इन्द्रिय को भी संयम चाहिए, उपस्थ इन्द्रिय को भी संयम चाहिए, नहीं तो अधिक भोग के कारण 'कृष्ण' से विमुख हो जाओगे। अतः इन्द्रियों का संयम करना ही इन्हें 'कृष्ण' में लगाना है।

केवल 'विशुद्ध भक्ति-प्राप्ति' का ही परम लक्ष्य बनाकर निष्काम भाव से 'कथा-कीर्तन' के कहने-सुनने वाले संसार के सबसे बडे 'दाता' हैं।

विशुद्ध आसक्ति 'भक्त-प्रेम'

बाबाश्री के सत्संग (१/२/२०१०) से संकलित

संसार को तो एक दिन छोड़ना ही पड़ता है, इसलिए मरने के बाद छोड़ने से क्या लाभ ? जीते-जी ही छोड़ दो। तुलसीदासजी ने लिखा है –

मन पछितैहे अवसर बीते।
दुरलभ देह पाइ हरिपद भजु, करम बचन अरु ही ते॥
सहसबाहु दसबदन आदि नृप, बचे न काल बलीते।
हम-हम करि धन-धाम सँवारे, अंत चले उठि रीते॥
सुत-बनितादि जानि स्वारथरत, न करु नेह सबही ते।
अंतहि तोहिं तजैंगे पामर ! तू न तजै अब ही ते॥
अब नाथहिं अनुरागु जागु जड़, त्यागु दुरासा जी ते।
बुझे न काम अगिनि तुलसी कहुँ, बिषय-भोग बहु घी ते॥

एक दिन जब तेरे घर वाले ले जाकर तुझे फूँक देंगे तब क्या फायदा ? पहले से ही भगवान् के भजन के लिए सब कुछ छोड़ दे। अपनी आसक्ति को मरने के पहले ही छोड़ देना चाहिए। आसक्ति लेकर मरोगे तो यह तुम्हें चौरासी लाख योनियों में भटकाएगी। इसका फल तुमको भोगना पड़ेगा। मनुष्य परिवार को अपना समझता है कि यह मेरा बेटा है, यह मेरी बेटी है, यह मेरा पति है, यह मेरी स्त्री है; जबकि दुनिया में अपना नाम की कोई चीज ही नहीं है। श्रीभगवान् ने कहा है –

पुंसः स्त्रिया मिथुनीभावमेतं तयोर्मिथो हृदयग्रन्थिमाहुः।
अतो गृहक्षेत्रसुताप्तवित्तैर्जनस्य मोहोऽयमहं ममेति॥

(श्रीभागवतजी ५/५/८)

विवाह के बाद नया 'मोह' पैदा होता है, ये जो नयी 'अहंता-ममता' पैदा होती रहती है, यह मोह है और इसी मोह में जीवन समाप्त हो जाता है; इस मोह को जीवगोस्वामीजी ने नामापराध माना है। यद्यपि नामापराध अलग हैं किन्तु जीवगोस्वामीजी ने कहा कि यह 'मोह' सबसे बड़ा नामापराध है। शरीरों के आधार पर 'सम्बन्ध जोड़ना, मोह-ममता करना, मेरा मानना' नामापराध है। वैष्णव शास्त्रों में लिखा है कि शरीर के सम्बन्ध से अहंता-ममता रखना 'मोह' है, जैसे - मेरा बेटा, मेरी बहू इत्यादि; इसे श्रीप्रह्लादजी ने भागवत में कहा है –

मागारदारात्मजवित्तबन्धुषु सङ्गो यदि
स्याद्भगवत्प्रियेषु नः। यः प्राणवृत्त्या परितुष्ट
आत्मवान् सिद्ध्यत्यदूरान्न तथेन्द्रियप्रियः॥

(श्रीभागवतजी ५/१८/१०)

स्त्री, पुत्र, जमीन-जायदाद में प्राणी आसक्ति रखता है, इसीलिए चौरासी लाख योनियों में भटकता है; हे दीनबन्धो ! मेरी आसक्ति इन जगहों में न हो जाए, आसक्ति यदि हो तो सच्चे शुद्ध भक्तों में हो।

सभी लोग अपने को शुद्ध भक्त समझते हैं जबकि हैं लड़ुआ-पूड़ी दास। प्रह्लादजी कह रहे हैं कि सच्चे भक्त वे हैं जो प्राणवृत्ति से संतुष्ट हैं, उतना ही खाते हैं जिससे कि जीवन चलता रहे, संग्रह नहीं करते हैं, उतना ही रखते हैं जिससे कि जीवित रहें; ऐसा भक्त बहुत जल्दी सिद्ध हो जाता है। बाकी हम जैसे इन्द्रिय प्रेमी (विषय लोलुप, भोगी) लोग सिद्ध नहीं होते हैं। हम जैसे लोग तो इन्द्रियों के पोषण में लगे रहते हैं, जीभ लपलपाती रहती है कि मीठा लाओ, अब नमकीन भी साथ में लाओ। हर इन्द्रिय अपने विषय के लिए लपलपाती रहती है, उसके तोषण में जो लगा हुआ है, वह कैसे सिद्ध हो जाएगा ? प्रह्लादजी ने यह बहुत सही बात कही है कि हम जैसे लोग जो इन्द्रियों के तोषण में लगे हुए हैं, वे सिद्ध नहीं हो सकते, बिलकुल नहीं हो सकते। अतः सांसारिक जो सम्बन्ध है, वह 'मोह' है, यह भगवान् से दूर करता है, जीव को निराश्रय नहीं बनने देता है।

श्रीभगवान् ने कहा है –

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥

(श्रीगीताजी ४/२०)

जब तुम फलासक्ति छोड़ दोगे तब नित्य तृप्त हो जाओगे, नहीं तो भूखे ही मरोगे, आसक्ति की भूख लेकर मरोगे, तृष्णा लेकर मरोगे, कभी भी तुम नित्यतृप्त होकर नहीं मर सकते। मनुष्य को नित्य तृप्त रहना चाहिए, इसकी पहिचान है 'निराश्रय होना' अर्थात् जीवाश्रय समाप्त हो जाता है, फिर वह संसार में काम करता भी है तो उसको पाप-पुण्य आदि कुछ नहीं लगता है। वह कुछ नहीं कर रहा है क्योंकि उसको कोई

भूख नहीं है, आसक्ति नहीं है, वह खा-पी भी रहा है तो आसक्तिरहित है केवल प्राणवृत्ति के लिए खा-पी रहा है; उसका सारा कार्य मुक्त हो जाता है, उसको कोई बन्धन नहीं होता है, उसको कोई भी कर्म बाँध नहीं सकता है। बाँधती है हमारी भूख, बाँधती है हमारी आसक्ति।

अतः 'अहंता-ममता' भी मोह है क्योंकि ये सब चीजें सीधे स्मृति पर आघात करतीं हैं। अहंतायें बदलती रहती हैं – लड़की का विवाह हो गया तो अब दुल्हिन बन गयी, बहू के रूप में नयी 'अहंता' आ गयी; फिर बेटा हो गया, माँ बन गयी, नई 'अहंता' आ गयी। फिर बेटा का विवाह हो गया तो सास बन गयी, यह भी नई 'अहंता' आ गयी। अब पुत्रवधू के भी बेटा पैदा हो गया तो दादी बन गयी, नई अहंता आ गयी। ऐसे ही पुरुष के साथ होता है – पहले कुँवारा था, अब विवाह हो जाने पर 'हम पति हैं' ये नई 'अहंता' आ गयी। बाप बन गया तो 'बाप की अहंता' आ गयी, फिर बेटे का विवाह हुआ तो ससुर बन गया, अब 'ससुर की अहंता' आ गयी; उसके बाद दादा-बाबा बन जाता है। इस तरह जीव की अहंताएँ व ममताएँ बदलती रहती हैं; यह मोह मात्र है और मिथ्या है, ये असत् अहंता-ममता भगवान् से दूर कर देती है। यदि यही आसक्ति (अहंता-ममता) विशुद्ध भक्तों-संतजनों में हो जाती है तो जीव सहज ही जीते-जी भव-बन्धन से छूटकर 'भगवत्प्राप्ति' कर लेता है।

'भक्त' सम्बन्ध जोड़ता है भक्ति के कारण। हमारे बाबा (श्रीप्रियाशरणमहाराज) ब्रज से जुड़ी अपने जीवन की एक सच्ची घटना सुनाते थे और कहते थे कि ब्रजवासियों का ऐसा विशुद्ध प्रेम होता है। वे जब नये-नये ब्रज में आये थे तो कुछ दिनों तक पिसाया में भी रहे थे; एक बार वहाँ से वे गिरिराजजी की परिक्रमा करने जा रहे थे, गर्मी के दिन थे, सुबह दस बजे से ही लू चलने लगती थी; मार्ग में वे किसी गाँव में पहुँचे, उन्हें प्यास लगी तो उन्होंने सोचा कि किसी ब्रजवासी के घर जाकर छाछ पी लेना चाहिए। एक घर में गये, दरवाजे पर 'राऽधेऽऽऽश्याऽऽमऽ !!!' की आवाज लगायी तो घर के अन्दर से एक बुढ़िया ने पूछा – "बाबा ! का लैगो ...?" बाबा ने कहा – "मैया ! छाछ लूँगा।"

उसने पूछा – "बाबा ! तू कहाँ ते आयौ है और कहाँ जाय रह्यौ है ?" बाबा ने कहा कि मैं पिसाया में रहता हूँ और अब गिरिराजजी की परिक्रमा करने जा रहा हूँ।

बुढ़िया बोली – "अच्छा, बाबा ! बैठ जा।" बुढ़िया घर के भीतर गयी और उसको देर हो गयी तो बाबा ने सोचा कि धूप तेज हो जाएगी, लू चलने लगेगी तो परिक्रमा में परेशानी होगी, अतः उन्होंने कहा – "मैया ! मुझे देर हो रही है, मैं जा रहा हूँ।" बुढ़िया बोली – "अरे ! तेरे लिए ही तो ला रही हूँ, बूढ़ी हूँ इसलिए हाथ धीरे-धीरे चलते हैं, तू बैठा रह।" थोड़ी देर बाद वह एक थाली भरकर दूध लायी और उसमें बूरा व घी भी मिला हुआ था। बाबा ने कहा – "मैया ! ये क्या ? मैं तो छाछ लूँगा।" बुढ़िया बोली – "तुझे छाछ पीना है तो किसी दूसरे घर में चला जा।" बाबा ने पूछा – "क्यों ?" तो बुढ़िया ने ऐसा जवाब दिया कि बाबा कहते थे कि मुझे आज तक याद है। (उस जमाने में लोग खेती करने के लिए हल का प्रयोग करते थे। आजकल तो ट्रैक्टर चल गये हैं।)

बुढ़िया बोली – "मेरे छोरे अभी खेत में गये हैं, मैंने उन्हें एक-एक थाली दूध पिलाकर भेजा है। तू गिरिराजजी कौ छोरा है, इसलिए मैंने तोकूँ भी दूध दियौ है, इसे पी ले नहीं तो मैं क्या मुँह लेकर गिरिराज बाबा की परिक्रमा करने जाऊँगी। गिरिराज बाबा सोचेगौ कि इसने अपने छोरान् कूँ तो दूध दियौ और मेरे छोरा कूँ छाछ दे दियौ।" इस बात को सुनकर बाबा ने दूध पी लिया और रास्ते में चलते (गिरिराजजी की परिक्रमा करते) हुए ब्रजवासियों के प्रेम की याद आती रही जिससे अपने आप अश्रुधारा बहती रही... । जब भी बाबा इस घटना को सुनाते तो उनकी आँखें नम हो जाती और गला भर आता ... ब्रज के विशुद्ध प्रेम को स्वयं श्रीकृष्ण भी सदा याद करते रहे ... ।

सभी जीवों का परममंगल करने के लिए ही श्रीभगवान् अवतार लेकर अति साधारण मानवी-लीलाएँ करते हैं।

अवधारणा से असली आराधना

बाबाश्री द्वारा निःसृत 'श्रीभागवत-कथा' (फरवरी १९८५) से संकलित

राजा परीक्षितजी ने श्रीशुकदेवजी से प्रश्न किया कि हे महाराज ! धारणा क्या है ? तब श्रीशुकदेवजी ने धारणा का जो स्वरूप बताया, उसे हमें ठीक से समझना चाहिए क्योंकि बहुत से लोग घबराते हैं, वे कहते हैं कि हम तो रसिक हैं, भागवतजी में तो बहुत-सी फालतू बातें भी हैं, ऐसा नहीं है; इसे अच्छी तरह से समझो – जैसे हम ब्रजोपासना कर रहे हैं तो ब्रज की उपासना भी उसी शैली की है जैसी शुकदेवजी बता रहे हैं । ब्रज की उपासना करना खेल नहीं है । सब लोग कहते हैं कि हम भक्त हैं, ब्रज में आये हैं, भक्ति कर रहे हैं किन्तु भक्ति करना खेल नहीं है । ब्रजोपासना भी बहुत कठिन है । ब्रज की उपासना में कहा गया है –

सद्योगीन्द्र सुदृश्य सान्द्र रसदानन्दैक सन्मूर्त्तयः
सर्वेप्यद्भुत सन्महिम्नि मधुरे वृन्दावने संगताः।
ये क्रूरा अपि पापिनो न च सतां सम्भाष्य दृश्याश्च ये
सर्वान् वस्तुतया निरीक्ष्य परम स्वाराध्य बुद्धिर्मम ॥

(श्रीराधासुधानिधि २६४)

जो ब्रज में क्रूर लोग रह रहे हैं, चोर हैं, रात को आकर पैसा छीनकर मार जायेंगे, पापी हैं, इतने ज्यादा पापी हैं कि देखने योग्य नहीं हैं, बोलने योग्य नहीं हैं, उनको इस रूप में देखकर भी ऐसी बुद्धि करो कि ये परम स्वाराध्य (साक्षात् श्रीइष्टदेव) हैं; ये है ब्रज की उपासना । ब्रजरसिक व्यासजी कहते हैं –

श्रीराधेरानी मोहि अपनी कर लीजै ।
और कछू मोहि भावत नाहीं, श्रीवृन्दावन रज दीजै ॥
खग मृग पशु-पंछी या वन के, चरण शरण रख लीजै ।
'व्यास' स्वामिनी की छवि निरखत, महल टहलनी दीजै ॥

इस ब्रज के खग-मृग, पशु-पक्षी आदि सब वन्दनीय हैं; इन सबके प्रति वही परम आराध्य भाव रखना चाहिए, तब तो यह ब्रज-उपासना है । ब्रज में लता-पता आदि जो कुछ भी दिखाई दे रहे हैं, ये सब दिव्य 'चिन्मय' हैं । हम लोगों को अपनी स्थूल दृष्टि से ब्रज में जो कुछ भी दिखाई पड़ता है कि यह पापी है, यह 'पीलू, ढाक का वृक्ष' है; जबकि महापुरुषजन कहते हैं –

रसिकन पारिजात यह दीखत,
विमुखन ढाक पीलूख ।

रसिकों को ब्रज के वृक्ष साक्षात् पारिजात दिखाई पड़ते हैं और हमको ढाक या पीलू के वृक्ष दिखाई पड़ते हैं । अभी हमें जो ब्रज का विकृत रूप दिखाई पड़ रहा है, इसके प्रति भी हमें वही चिन्मय भाव स्थापित करना पड़ेगा कि यह वही दिव्य ब्रज है । यही बात शुकदेवजी सिखा रहे हैं कि जितना भी संसार हमें दिखाई पड़ रहा है, यह सब भगवान् का स्वरुप है, यही धारणा करो । यदि तत्त्वदृष्टि से, सिद्धान्त के अनुसार देखा जाए तो रसिकों के सिद्धान्त में और भागवत के सिद्धान्त में कोई अंतर नहीं है । केवल एक 'समझने' का अन्तर है (प्रायः लोगों को यथार्थ तत्त्व बोध नहीं हो पाता है, जिससे व्यर्थ के लिए भेद की एक बहुत बड़ी दीवाल अपने चित्त में बढ़ा लेते हैं, जबकि भेद कुछ नहीं है) । धारणा कैसी है ? इसे शुकदेवजी बताते हैं कि यह जो संसार का स्थूल रूप है, इसे ऐसा समझो कि यह भगवान् का रूप है । जैसे – 'ब्रजोपासकजन' ब्रज के कण-कण में चिन्मय भाव लाने की कोशिश करते हैं । अभयरामजी कहते हैं –

'धनि-धनि वृन्दावन के गदहा प्यारे ।'
'धनि-धनि वृन्दावन की चींटी ।'
'धनि-धनि वृन्दावन के कूकर ।'
'धनि-धनि वृन्दावन के सूकर ।'

बहुत से लोग इन पदों को गा-गाकर हँसते हैं, ये पद पढ़कर लोग सोचते हैं कि अभयरामजी ने यह क्या गा दिया, यह जो उन्होंने गा दिया, इसे हम समझ नहीं सकते और यह हमें परिहास लगता है परन्तु यह परिहास की बात नहीं है । इसका अभिप्राय यह है कि ब्रज-वृन्दावन के कूकर, शूकर, गधा इत्यादि इन सबमें चिन्मय भाव रखो; इसी का नाम भावुकता है, यदि इनके प्रति भाव नहीं

रखोगे, वही स्थूल दृष्टि बनाए रखोगे तो कैसे तुम ब्रज के उपासक बोले जाओगे ...?

अरे, हम लोगों से तो इस संसार के प्राकृत प्रेमी अच्छे हैं, जैसे - मजनू ने कहा कि लैला की गली का कुत्ता भी मेरा पूज्य है और हम लोग ब्रज में आकर यदि दोषदृष्टि करते हैं कि अरे यहाँ तो बड़ी गड़बड़ी है, यहाँ के लोग पैसा माँगते हैं, ऐसा करते हैं, वैसा करते हैं...तो इस प्रकार बिल्कुल नहीं सोचना चाहिए। सारा संसार 'भगवान्' का ही रूप है, यही है धारणा। इस प्रकार ब्रह्माण्ड की जितनी भी विभूतियाँ हैं, ये सब भगवान् का स्वरूप हैं। इस तरह विराट भगवान् का स्थूल से स्थूल रूप जो यह ब्रह्माण्ड है, इसमें जब भगवद्धारणा स्थित हो जाती है, तब उस व्यक्ति को सभी वृत्तियों में भगवान् ही अनुभूत होते हैं और सत्य व आनन्द की निधि 'भगवान्' का भजन करने वाला अन्यत्र (किसी अन्य व्यक्ति, वस्तु में) आसक्त नहीं होता है, जिससे उसका आत्मपतन नहीं होता है। हम लोगों में और एक भक्त में यही अंतर है कि हम भी इस संसार को देखते हैं और एक भक्त भी देखता है किन्तु भक्त सर्वत्र 'भगवान् की धारणा' रखता है तो संसार के इन्ही दृश्यों को देखते हुए भी वह 'कृष्ण' को प्राप्त हो जाता है और हम लोग संसार में 'भगवान् की धारणा' न करके प्राकृत धारणा करते हैं, अतः इस कारण से हमारा आत्मपात हो जाता है; यह केवल दृष्टि का भेद है।

सबसे पहले शुकदेवजी ने धारणा का उपदेश दिया और उसके बाद शेष कथा कही। शुकदेव जी ने धारणा का जो उपदेश दिया, वह धारणा सर्वत्र आवश्यक है । ब्रज उपासना में उस धारणा का क्या स्वरुप है, यह पहले ही बताया जा चुका है क्योंकि इसे बिना समझे कभी-कभी लोग आलोचना करने लगते हैं। जैसे भागवत में धारणा के अन्तर्गत सब कुछ भगवान् को ही बताया गया, उसी प्रकार ब्रजोपासना में भी धारणा का छोटा-सा उदाहरण देखिये – श्रीजी दानलीला के प्रसंग में श्यामसुंदर से कहती हैं – हे प्यारे ! आप इस प्रकार से साँकरीखोर में दान ले रहे हैं तो यहाँ ब्रज के सब जीव देख रहे हैं। उस समय श्यामसुन्दर कहते हैं – हे किशोरी जू ! वस्तुतः यह सब मेरा अंग है।

"ब्रज वृन्दावन गिरि नदी, पशु-पक्षी सब संग।
इनसो कहा दुराव प्यारी, ये सब मेरो अंग ॥"

ब्रज लाल-लाड़िली का अंग माना जाता है। यहाँ तक कि जो बरसाने का श्रीजी के करकमलों से निर्मित गह्वरवन है, यह स्थली सखीरूपा है, यह यहाँ की धारणा है।

रसिक महापुरुषों ने इस स्थली (गह्वरवन) के सहचरी रूप का वर्णन किया है – **चलत्पदस्पर्शमवाप्य सास्थली सुनिर्वृताभूत्प्रथमं ततः परम् । अन्यत्र तत्पादमवेक्ष्य चेर्ष्यया किंचिन्मलिम्नश्छलतोऽश्रु बिभ्रती ॥**

(श्रीवृषभानुपुरशतक – ६)

बरसाने की एक-एक स्थली सहचरी रूपा है और सहचरीगण श्रीजी के श्रीचरण का प्रकाश हैं। अतः केवल क्रम, कहने का ढंग कुछ अलग मालूम पड़ता है किन्तु परिपाटी वही है। उपासक जहाँ कहीं भी जाता है, उसको वही क्रम रखना पड़ता है।

ब्रह्माजी को भी जो कुछ प्राप्ति हुई, इसी धारणा से हुई कि सब कुछ प्रभु हैं – **एवं पुरा धारणयाऽऽत्मयोनिर्नष्टां स्मृतिं प्रत्यवरुध्य तुष्टात् ।** (श्रीभागवतजी २/२/१)

उपासक के लिए धारणा का बहुत महत्व है। गुरु या भावुक महापुरुष हमारे चित्त में सबसे पहले धारणा का संशोधन करते हैं, यह उपासना की नींव है। नींव यदि गड़बड़ हो जायेगी तो मकान भी गड़बड़ हो जाएगा। धारणा का ही पोषण भागवत में आगे सभी महापुरुषों ने किया है। कपिल भगवान् भी धारणा का पोषण करते हैं –

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ॥

(श्रीभागवतजी ३/२९/२१)

भगवान् कहते हैं कि चाहे कोई कितना भी भजन करे, सेवा करे परन्तु यदि उसकी धारणा गलत है तो मेरी सेवा-पूजा केवल विडम्बना है, केवल स्वांग मात्र है, उन्होंने आगे यहाँ तक कह दिया –

यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः ॥

(श्रीभागवतजी ३/२९/२२)

यदि हमारी धारणा गड़बड़ है तो जैसे राख में हवन किया जाए, वैसे ही अर्चा (ठाकुर जी की पूजा) सब तरह से व्यर्थ हो जाती है। जो सद्गुरु होते हैं, वे धारणा का ही शोधन करते हैं। धारणा को सँभालने के बाद शुकदेवजी उसका महत्व बता रहे हैं कि धारणा के ही द्वारा ब्रह्माजी ने अपनी नष्ट स्मृति प्राप्त की और सारे संसार की रचना की। जो वेद भगवान् हैं, ये शब्द ब्रह्म हैं, इनके भी बीच में जो विद्वान् लोग हैं, वे प्रयोजन मात्र ही व्यवहार रखते हैं, अन्यत्र नहीं क्योंकि परिश्रम व्यर्थ जाता है। प्रयोजन क्या है, जिससे केवल भगवद्भक्ति और उपासना का पोषण हो, विद्वान् लोग उतना ही ग्रहण करते हैं। अन्य जो कर्म की श्रुतियाँ हैं, सकाम कर्म का प्रतिपादन करती हैं। रोचनार्था फलश्रुति जितनी भी हैं, उन सबको विद्वान लोग छोड़ देते हैं। श्रीशुकदेव जी महाराज बता रहे हैं कि संसार में जितने भी लोग हैं, चाहे विद्वान् हैं परन्तु पता नहीं क्यों जब (शयन करने के लिए) पृथ्वी है तो फिर भी अच्छे-अच्छे पलंग खरीदते हैं, बड़े अच्छे गद्दों का प्रयोग करते हैं, जब अपनी भुजा है (फिर भी) अच्छे-अच्छे तकिया खरीदते हैं। हाथों से (अंजलि बांधकर) जल पी सकते हैं परन्तु फिर भी अच्छे-अच्छे जल पात्र खरीदते हैं। क्यों खरीदते हैं, क्यों संग्रह करते हैं ? यह तो अविवेक है, अज्ञान है। कुम्भनदासजी (महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के शिष्य व अष्टछाप के महान संत) के पास दर्पण भी नहीं था, पत्थर की कठौती में जल भरकर, उसी में देखकर तिलक किया करते थे। स्वामी हरिदास जी अपने शरीर पर ब्रजरज का लेप करते थे, उनके पास रहने के लिए कोई कुटिया भी नहीं थी, निधि-वन की लताओं-कुंजों में पड़े रहते थे। ये लोग सच्चे महापुरुष थे, इन्होंने संसार की वस्तुओं को असार समझा, ये सच्चे रसिक थे; बाकी और जितने भी विद्वान् 'धन और मायिक पदार्थों का' जो संग्रह करते हैं, वह संग्रह व्यर्थ है। श्रीशुकदेवजी कहते हैं –

चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां
नैवाङ्घ्रिपाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन्।
रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्नान्
कस्माद् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्॥

(श्रीभागवतजी २/२/५)

आश्चर्य है ये विद्वान् हैं, कवि हैं फिर भी धन के नशे में मदान्ध हुए धनिकों की चापलूसी करते हैं, उनका आश्रय लेते हैं। वस्त्र यदि नहीं है तो रास्ते में पड़े हुए चीथड़े लेकर पहन लो। भोजन यदि नहीं है तो पेड़ के सूखे पत्ते चबा लो। श्रीवृन्दावनमहिमामृत शतककार कहते हैं –

भोक्तुं स्वादुं निकामं सकल तरुतले
शीर्ण पर्णानि सन्ति
स्वच्छन्द स्वछन्दमेवास्ति.....

पीने के लिए यमुना जी का जल है, खाने के लिए लता-पता के सूखे पत्ते पड़े हुए हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं – 'रुद्धा गुहाः' क्या गुफायें बंद हो गयी हैं जो हम लोग बड़े-बड़े मकान बनाने में लगे रहते हैं, क्या 'अजित' श्यामसुंदर भक्तों की रक्षा नहीं करते हैं, जो हम लोग अपनी रक्षा की चिंता करते हैं। फिर क्यों विद्वान् लोग धन के दुर्मदान्ध लोगों के पीछे-पीछे घूमा करते हैं कि सेठ लोग कुछ धन दे जायेंगे; क्या है इनकी विद्या ? श्रीशुकदेवजी परीक्षितजी से कहते हैं – <u>विद्या का यही फल है कि इस प्रकार की धारणा से प्रभु को अपने हृदय में पकड़ो।</u>

वाणी से भगवान् का गुण गाओ और कानों से कथा-कीर्तन सुनो, जहाँ भक्तजन संकीर्तन (नृत्य-गान) करते हैं, वहाँ तुम कीर्तन सुनोगे, हाथों से सेवा करोगे तो ताकत आएगी जिससे नाचोगे, ताली बजाओगे। मन को भगवान् के चरण-कमल में लगाओ, सिर से संसार को भगवद्भाव से प्रणाम करो, आँखों से संत-भक्तों का दर्शन करो क्योंकि संतजन भगवान् के शरीर हैं।

(श्रीभागवतजी १०/१०/३८)

परम सेवाराधक 'श्रीकृष्णदासजी'

श्रीकृष्णदासजी का जन्म सं.१५५४ वि. के लगभग गुजरात प्रान्त में अहमदाबाद के समीपवर्ती चिलोत्तरा नामक ग्राम में कुनवी कुल में हुआ था, इनके पिता न्यायाधीश थे किन्तु असद्वृत्तियों से लिप्त होने के कारण चोरों, डकैतों का सहयोग करते थे। एक दिन ग्राम के समीप कुछ बंजारे रुके हुए थे, इनके पिताजी ने चोरों को प्रेरित करके उन्हें लुटवा दिया, चोरों द्वारा लूटे धन से १२ हजार तो उन्होंने स्वयं रख लिए तथा २ हजार रुपये चोरों को दे दिये। जब बंजारे न्याय हेतु इनके पास पहुँचे तो इन्होंने अनुचित रूप से बंजारों को ही फटकार लगायी। कृष्णदासजी को अपने पिता के इस न्याय विपरीत व्यवहार से अत्यधिक ठेस पहुँची, अतः उन्होंने बंजारों से साफ-साफ कह दिया कि मेरे पिता ने ही चोरों द्वारा आपका धन हरण करवाया है, अतः आप लोग बादशाह के पास जाकर अपना दुःख निवेदित करो, मैं गवाही देने को तैयार हूँ। बंजारों ने बादशाह से शिकायत की, उसने पिता-पुत्र दोनों को गिरफ्तार कराकर अपने सन्मुख उपस्थित करने की आज्ञा दी। श्रीकृष्णदासजी ने अपने पिता के विरुद्ध सत्य ब्यान देकर बंजारों का धन उन्हें वापस दिलाया। इस घटना के बाद उनके हृदय में तीव्र वैराग्य का उदय हुआ। फलस्वरूप बाल्यावस्था में ही गृह को त्यागकर तीर्थयात्रा करते हुए मथुरा में इनका आगमन हुआ, यहाँ विश्रामघाट पर इनकी भेंट वल्लभाचार्यजी से हुई। आचार्य महाप्रभु कृष्णदासजी को देखते ही समझ गए कि ये तो दिव्य जगत के दैवी जीव हैं, अतः उन पर अपनी अहैतुकी कृपा-वर्षा करते हुए पुष्टिमार्गीय वैष्णव-दीक्षा देकर ब्रह्म-सम्बन्ध कराया। आगे चलकर आपकी दिव्य प्रतिभा-शक्ति ने आपको ठाकुर श्रीनाथजी की सेवा का कार्यभार दिला दिया।

आपके नेतृत्व में श्रीनाथजी की सेवा-पूजा की चहुँमुखी प्रगति हुई। आपका यशोगान गुसाँई नाभाजी ने सुप्रसिद्ध कृति भक्तमाल में इस प्रकार किया है –

गिरिधरन रीझि कृष्णदास कौं नाम माँझ साझौ दियौ॥
श्री वल्लभ गुरुदत्त भजन सागर गुन आगर।
कवित नोख निर्दोष नाथ सेवा में नागर॥
वानी वन्दित विदुष सुजस गोपाल अलंकृत।
ब्रजरज अति आराध्य वहै धारी सर्वसु चित॥
सान्निध्य सदा हरिदासवर्य गौरश्याम दृढ़ व्रत लियौ।
गिरिधरन रीझि 'कृष्णदास' कौं नाम माँझ साझौ दियौ॥

श्रीगोवर्धननाथ गिरिधारीलालजी ने सप्रसन्न श्रीकृष्णदासजी को अपने नाम में हिस्सेदारी दी; ये गुरुदेव श्रीवल्लभाचार्यजी द्वारा प्रदत्त भजनमार्ग के सागर एवं दिव्य गुणों की निधि थे। आपके द्वारा रचित काव्य अद्भुत विशेषतायुक्त एवं सर्वथा दोष रहित है। श्रीनाथजी की परिचर्या में आप पूर्णतया दक्ष थे। श्रीगोवर्धनधारी गोपालजी के त्रिभुवनमंगल सुयश से अलंकृत आपकी वाणी की विद्वान लोग भी सराहना किया करते हैं। कृष्णदासजी 'ब्रजरज' को ही अपना सारसर्वस्व, अपना सर्वोच्च आराध्य मानते हुए मनसा-वाचा-कर्मणा उसी को धारण करते थे। आप सदा श्रेष्ठ भक्तों की संगति में हरिदासवर्य गिरिराजजी की तलहटी में निवास करते थे। युगल सरकार श्रीराधामाधव की आराधना का आपने दृढ़ व्रत अंगीकार कर रखा था।

भक्तमाल टीकाकार प्रियादासजी के मतानुसार – एकबार कृष्णदासजी आगरा से नृत्य-गान-कला में प्रवीण एक वेश्या पर अनुग्रह करके उसे अपने साथ गोवर्धन लाये; समस्त वैष्णवोचित संस्कारों के द्वारा उसकी आत्यंतिक शुद्धि करके उसे एक स्वरचित पद का सम्यक् प्रकार से अध्ययन कराकर उस पद को श्रीनाथजी के सम्मुख गायन करने के लिए प्रस्तुत किया –

मो मन गिरिधर छबि पर अटक्यो।
ललित त्रिभंगी अंगनि पर, चलि गयो तहाँ ही ठटक्यो॥
सजल स्यामघन वरन लीन ह्वै, फिरि चित अनत न भटक्यो।
'कृष्णदास' कियो प्रान निछावर, यह तन जग सिर पटक्यो॥

पद की अंतिम पंक्ति "कृष्णदास कियो प्रान निछावर, यह तन जग सिर पटक्यो ॥" को गाते-गाते वेश्या ने यथार्थवत् अपने प्राणों को श्रीठाकुरजी के चरणों में न्यौछावर कर दिया और दिव्य देह से उनकी नित्यलीला में प्रस्थान कर गयी। तदनन्तर इस पद की शेष पंक्ति को कृष्णदासजी ने पूर्ण किया ...।

इसी तरह से श्रीनाथजी के कार्यवश एकबार कृष्णदासजी दिल्ली गये हुए थे, वहाँ बाजार में किसी दुकान पर कढ़ाई में तली जा रही जलेबियों को देखकर उन्हें श्रीनाथजी के आस्वादन करने योग्य जानकर वहीं दिल्ली से ही श्रीनाथजी को जलेबियों का थाल भोग (मानसिक भोग) लगाया और भक्तभावग्राही गिरधरलाल ने गिरिराजजी से ही हाथ बढ़ाकर तत्क्षण उनके द्वारा अर्पित जलेबियों को स्वीकार कर लिया।

सघन वृक्षावली एवं लता-गुल्मों से परिपूरित रही विलक्षण वन व बिल्छू कुण्ड की भूमि श्रीनाथजी के मन्दिर-अधिकारी अष्टछाप के सुकवि श्रीकृष्णदासजी की निवास स्थली भी रही है। एकबार कृष्णदासजी पूंछरी ग्राम के समीप निर्माणाधीन कुँए का निरीक्षण करते हुए सहसा अपनी छड़ी के फिसल जाने से कुँए में गिर गये और वहाँ उनका शरीरांत हो गया। यह कुआँ आज भी गोवर्धन-परिक्रमा में पूंछरी-स्थान के समीप 'कृष्णदास का कुआँ' नाम से प्रसिद्ध है। कृष्णदासजी के कुँए में गिरने के पश्चात् सर्वत्र यह बात फैल गयी कि कृष्णदासजी भूत बन गए हैं। वृन्दावन के रसिकों को महान विस्मय हुआ कि यह कैसी विडम्बना है, कृष्णदासजी जैसे परम अधिकारी का इस निकृष्ट योनि में कैसे प्रवेश हुआ ? समस्त रसज्ञजनों ने चकित-थकित होकर जतीपुरा की ओर प्रस्थान किया कि नाथजी से ही यह जिज्ञासा व्यक्त करेंगे। श्रीवृन्दावन से जब चले एक रात्रि राधाकुण्ड, गोवर्द्धन निवास किया; अतएव राधाकुण्ड पर श्रीस्वामीहरिदासजी महाराज, स्वामी श्रीहितहरिवंशजीमहाराज की बैठक है, अन्यथा वहाँ उनकी बैठक का कोई प्रसंग नहीं है। एक रात्रि राधाकुण्ड में विश्राम करके दूसरे दिन जतीपुरा की ओर गमन किया। उस समय गुसाँई श्रीविट्ठलनाथजीमहाराज 'नाथजी' की श्रृंगार-सेवा कर रहे थे, तब तक नाथजी ने स्वयं ही आदेश किया – "वृन्दावन के महान रसिकजन पधार रहे हैं, आप जाकर उनका अभिनन्दन करें।" तत्क्षण आदेशानुसार श्रृंगार-सेवा छोड़कर श्रीगुसाँईजीमहाराज उनके स्वागत हेतु चल पड़े। इधर से गुसाँईजी का आगमन हुआ, उधर से रसिकों का आगमन हुआ। "जान-अजान" स्थान पर समस्त 'रसिक-समाज' गुसाँईजी द्वारा सम्मानित हुआ; तदुपरान्त सभी मन्दिर में गये और नाथजी का दर्शन किया; जिज्ञासा सम्मुख रखें, इससे पूर्व ही एक ग्वारिया आया और विस्मयान्वित होकर बोला – "गुसाँईजी ! जै-जै...अभी-अभी श्यामढाक में कृष्णदास अधिकारीजी को मैंने देखा, वे झारी लेकर सेवा में जा रहे थे, उन्होंने कहा – "कुँआ के पार पर कुछ द्रव्य रखा हुआ है, उसे गुसाँईजी सेवा में लगा दें।" कृष्णदासजी भूत नहीं बने, वे तो नित्य सेवा में अवस्थित हैं, ये बात सुनकर सभी महापुरुषों की शंका का स्वतः समाधान हो गया और वे सब सन्तुष्ट होकर लौट गए।

इस प्रकार से श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभु के परम कृपापात्र 'श्रीकृष्णदासजी' ने श्रीनाथजी की तन-मन-वचन से सेवा-आराधना करके भक्तजनों के लिए एक परम आदर्श स्थापित किया।

नृत्य-गान करने वाले भक्तजनों का दर्शन करने मात्र से कल्याण हो जाता है, सामूहिक संकीर्तन में अवश्य रहना चाहिए, वहाँ सभी भक्तों के एक साथ सहज दर्शन हो जाते हैं और अकेले कोठरी में आलस में पड़े रहने से कोई लाभ नहीं है |

दर्शनान्नो भवेद्बन्धः पुंसोऽक्ष्णोः सवितुर्यथा ॥ (श्रीमद्भागवत १०/१०/४१)

भक्त का आभूषण 'शील-स्वभाव'

बाबाश्री द्वारा निःसृत 'श्रीभागवत-कथा' (फरवरी १९८५) से संकलित

भक्त का स्वभाव कैसा होता है, यह भगवान् ने गीता के बारहवें अध्याय में बताया है कि भक्त में अनेक सद्गुण होते हैं – **"यो मद्भक्तः स मे प्रियः"** अतः विशेष महत्वपूर्ण बात यह है कि 'श्रीसद्गुरुदेव' के पास जाकर हमें स्वभाव सीखना चाहिए। केवल हम लोग 'सद्गुरु' के पास से माला जपना सीख आयें या कोई पुस्तक पाठ करने के लिए ले आयें और कहें कि हमें गुरु-दीक्षा मिल गयी, गुरुजी ने हमको ऐसा साधन करना बता दिया है; ऐसा नहीं होना चाहिए। ब्रह्माजी कहते हैं कि 'भक्त की शील-शिक्षा' ग्रहण करना चाहिए अर्थात् भक्त कैसे बोलता है, कैसे उठता-बैठता है, कैसे व्यवहार करता है, किसी ने यदि उसको गाली दी तो वह उसका कैसे जवाब देता है; ये सारी बातें गुरुजी से सीखनी चाहिए, ये है वास्तविक 'गुरु और शिष्य का सम्बन्ध' जिसे श्रीमद्भागवतजी में बताया गया है। 'गुरु और शिष्य का सम्बन्ध' केवल इतना ही नहीं है कि साल भर में एक बार गुरुजी के पास जाकर उनको दण्डवत कर आये, थोड़ी-सी मिठाई और कुछ रुपये भेंट कर आये और समझ लिया कि यही है 'गुरु-भक्ति'। ऐसा नहीं है, उनके पास जाकर भागवत के अनुसार 'अद्भुतक्रमपरायणशीलशिक्षा' ग्रहण करनी चाहिए, यही वह वस्तु है जो माया से पार कराएगी; इन सब बातों का ध्यान रखना चाहिए। श्रीभागवतजी में कहा गया है –

ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमायां
स्त्रीशूद्रहूणशबरा अपि पापजीवाः।
यद्यद्भुतक्रमपरायणशीलशिक्षा
स्तिर्यग्जना अपि किमु श्रुतधारणा ये॥

(श्रीभागवतजी २/७/४६)

अर्थात् देवमाया को कौन पार करेंगे ? वही पार करेंगे, जिनके स्वभाव में भक्त जैसा शीलगुण आ गया है।

जैसे कि भक्त को यदि कोई गाली देता है – 'अरे, तू बड़ा गधा है।' भक्त उत्तर देता है – 'आप सत्य कह रहे हैं, न जाने कितनी बार मैं ८४ लाख योनियों में गधा बना हूँ। आपने तो मुझे केवल एक ही बार गधा कहा है जबकि मैं तो करोड़ों बार गधा बनकर भटका हूँ। प्रभो ! अब कृपा करो, इस गधापन से छुट्टी तो दिलाओ।' भक्त ने कितना बढ़िया उत्तर दिया, दुष्ट व्यक्ति तो 'भक्त' को गधा कह रहा है परन्तु वह 'भक्त' कितने प्रेम से कह रहा है – "हाँ प्रभो ! गधा तो मैं हूँ ही, अब आप कृपा तो करो, इस गधापन से मुक्ति दिलाओ और श्यामसुंदर की भक्ति प्रदान करो।" विचार करके यदि देखा जाए तो 'भक्त का उत्तर' तो यही होना चाहिए और हम लोगों का क्या व्यवहार होता है, यदि हमसे कोई गधा कहेगा तो हम लोग कहेंगे कि मैं क्यों गधा हूँ, तेरा बाप गधा होगा, तेरा बाबा गधा होगा, तेरी माँ गधी होगी; इस तरह हम लोग उसके सात पुरखों तक हमला कर देंगे; इसका यही अभिप्राय है कि तुम एक पैसा असुर हो तो हम दो पैसा असुर हैं। इसीलिए इस श्लोक (श्रीभागवतजी २/७/४६) में ब्रह्माजी बता रहे हैं कि भक्त के अन्दर जो शील-स्वभाव होता है, उसे हमें सीखना चाहिए। यह आसुरी दुर्गुण तो हमारे भीतर बहुत दिनों से चला आ रहा है लेकिन अब हम लोगों को 'भक्त का जो शील स्वभाव है, भक्त की जिस प्रकार की बोलने-चालने की शैली है' वह सीखनी है, तब हम माया के पार जायेंगे।

मानपुर में एक वृद्ध ब्रजवासी बताते थे कि जब हम लोग छोटे थे तो बरसाने की मोरकुटी पर 'स्वामिनीशरण' नामक एक महात्मा रहते थे, वे चौबीस घंटे लीला की भावना में डूबे रहते थे। ब्रजवासी बालक मोरकुटी पर जाकर व्यायाम, दंडबैठक आदि करते थे, आपस में कुश्ती भी लड़ते थे लेकिन 'स्वामिनीशरण बाबा' सदा अपनी लीला-भावना में डूबे रहते थे; उनका एक शिष्य उनकी बहुत सेवा करता था; एकबार वह शिष्य दोहनीकुण्ड के पास शौच के लिए गया तो उसकी मृत्यु हो गयी। ब्रजवासी भी जब वहाँ पहुँचे तो देखा कि मोरकुटी वाले बाबा के शिष्य का शव वहाँ पड़ा है; उन्होंने सोचा कि चलो बाबा को बता आवें। ब्रजवासियों ने बाबा से कहा कि आपका चेला तो मर गया है, दोहनी कुण्ड के पास उसका शव पड़ा है। बाबा बोले कि उसकी मृत्यु तो यहीं मोरकुटी पर हुई थी, फिर मैं उसके मृतक देह

को अपने शरीर पर लादकर दोहनीकुण्ड पर रख आया। ब्रजवासी बोले – "अरे बाबा ! आपने हमें क्यों नहीं बताया, हम उसका दाह-संस्कार कर देते।"

बाबा ने कहा – "अरे भैया ! मैं तो पवन-दाग (वायु- संस्कार) कर आया, ब्रज की हवा उसको लग गयी, यही कर्मकाण्ड हो गया, कौन जाये कंडा माँगने ? तुमलोग ब्रजवासी हो, अब जो चाहे करो।" यह क्या है ...? एक वेदमंत्र है कि जो वस्तुतः जीवन्मुक्त है, उसके लिए आवश्यक नहीं कि उसकी मृत्यु के बाद उसके उद्धार के लिए कर्मकाण्ड करो, शास्त्रोक्त क्रिया करो, वह तो अपने भगवत्स्मरण से स्वतः पवित्र है। 'श्रीकृष्ण-स्मरण' से बढ़कर दुनिया में कोई कर्मकाण्ड नहीं है। भागवत में इस प्रकार की मुक्ति क्यों लिखी है ? इसलिए क्योंकि भक्त 'कृष्ण-स्मरण' करते हैं, कृष्ण-लीला को गाते हैं; इससे बड़ा कर्मकाण्ड और क्या होगा ? अब यहाँ यह शंका होती है कि अर्चना-पूजा तो कल्याणकारी होती है, फिर भगवान् इस तरह इसका खण्डन क्यों कर रहे हैं ? इसके समाधान में कबीरदासजी ने बहुत-से विशुद्ध भावमय दोहे, पद आदि कहे हैं, जैसे –

माला फेरत जुग भया, गया न मन का फेर।
कर का मनका डार दे, मन का मनका फेर॥

श्रीभगवान् ने भी गीताजी में भी कहा है –

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य.... स उच्यते। (श्रीगीताजी ३/६)

जो मनुष्य कर्मेन्द्रियों (हाथ-पाँव) को रोककर उपासना के लिए बैठ जाता है किन्तु मन से विषयों का चिंतन करता है, तो वह मिथ्याचारी है। यदि कोई माला जप रहा है किन्तु उसका मन 'भगवान्' में न होकर विषय-चिन्तन करता है तो भगवान् के अनुसार वह पाखण्डी है।

अब यह प्रश्न उठता है कि इस तरह भगवान् अपनी सेवा-पूजा की, भजन की निंदा क्यों कर रहे हैं ? महाप्रभु वल्लभाचार्यजी ने तो कलियुग में घर-घर में ठाकुरजी की सेवा-पूजा पधरायी। 'भगवत्सेवा' घर में करना तो अच्छी चीज है, फिर भागवत में भगवान् इसकी आलोचना क्यों करते हैं, ऐसी स्थिति में जीव का कल्याण कैसे होगा ?

इसका उत्तर यह है – **"अनिन्द्ये निन्दा निन्दयतुं न प्रवर्तते किन्तु विधेयं स्तोतुम्।"** यह न्याय का सूत्र है, इसका अर्थ है – जो चीज निन्दा के योग्य नहीं है, 'अनिन्द्य' है फिर भी 'अनिन्द्य की निंदा' निंदा के लिए नहीं की जाती किन्तु 'और कोई बात' आगे वाली मंजिल बताने के लिए कही जाती है। जैसे - किसी पिता ने अपने पुत्र से कहा – "अरे बेटा ! तू उस व्यक्ति के पास जाकर पचास रुपये की नौकरी कर रहा है, दूसरे अमुक व्यक्ति के पास जा, मैंने उससे बात कर ली है, वहाँ तुझे २५० रुपये की नौकरी मिलेगी।" अब यहाँ पचास रुपये की निन्दा क्यों की गई ? २५० रुपये वाली नौकरी की प्राप्ति के लिए ऐसा किया गया; इसका मतलब यह तो नहीं है कि धनोपार्जन करना गलत है; 'भाव' यह है कि धनोपार्जन करो किन्तु अधिक करो। ५० रुपये छोटी चीज है, २५० रुपये बड़ी चीज है। इसीलिए प्रभु कह रहे हैं कि तुम यजन तो कर रहे हो, तुम्हारी क्रिया तो ठीक है किन्तु किसी की उपेक्षा, अनादर आदि करने से वह राख में हवन करने के समान व्यर्थ हो जाता है; जैसे निम्बार्काचार्यजी ने लिखा है –

"विरोधिनोरूपमथैतदाप्तेर्ज्ञेया"

निम्बार्क भगवान् कहते हैं कि 'विरोधी तत्त्व' को भी अवश्य जानना चाहिए; नहीं जानोगे तो जैसे किसी घड़े में छेद है और उसे बिना जाने कोई घड़े में पानी भर रहा है तो सारा पानी चू जायेगा, एक बूँद पानी भी घड़े में नहीं टिकेगा; उसी प्रकार तुम्हारी उपासना भी व्यर्थ हो जाएगी। भगवान् ने उपासना का खण्डन नहीं किया है। एकादश स्कन्ध में भी भगवान् ने 'क्रियायोग-मूर्तिपूजा' को स्थापित किया है। इसलिए एक जगह के लिखे वचन को पढ़कर व्यर्थ की शंका नहीं करना चाहिए। सब तरह की बात को समझ-बूझकर समन्वय करके आत्मसात करना चाहिए और तब ही बोलना चाहिए। भगवान् ने कर्मकाण्ड या मूर्ति-पूजा का यहाँ खण्डन नहीं किया है क्योंकि एकादश स्कन्ध में वे स्वयं मूर्तिपूजा – क्रियायोग का विधान करते हैं। हमलोग जितने भी भजन करने वाले हैं, हमारा कर्त्तव्य है कि न तो किसी की निंदा करें, न सुनें, न उपेक्षा करें, न द्वेष करें। हमने भगवान् का खूब नाम लिया किन्तु किसी से द्वेष करने पर वह व्यर्थ हो जाता है।

यह सम्पूर्ण ब्रज वही है, जहाँ श्रीकृष्ण एक-एक रज कणिका को पवित्र करते हुए चले हैं, दौड़े हैं, बैठे हैं
और कभी-कभी तो रमणरेती आदि स्थलियों में रज ही बिछाते हैं, रज ही ओढ़ते भी हैं।

परम तीर्थमय 'गाय'

बाबाश्री के सत्संग 'गौ-महिमा' (२६/८/२०१२) से संकलित

जब पाण्डव लोग अज्ञातवास कर रहे थे तो दुर्योधन ने भीष्मजी से पूछा – "दादाजी ! आपको पता है कि पाण्डव कहाँ हैं, आप बता दीजिये, नहीं तो वे आकर हमसे लड़ेंगे; आपकी प्रतिज्ञा है कि मैं राजसिंहासन की रक्षा करूँगा, अतः आप अपनी प्रतिज्ञा से मत हटिये।"

'भीष्मजी' पाण्डवों के बारे में नहीं जानते थे और वे झूठ नहीं बोलते थे, चाहे आकाश फट जाय, चाहे पृथ्वी फट जाय। भीष्मजी ने कहा – "दुर्योधन, मुझे पता नहीं कि पाण्डव कहाँ छिपे हैं ?"

दुर्योधन बोला – "लेकिन आप अनुमान से तो बता सकते हैं।" भीष्मजी ने कहा –

गावश्च बहुलास्तत्र न कृशा न च दुर्बलाः ।
पयांसि दधि सर्पींषि रसवन्ति हितानि च ॥

(महाभारत, विराटपर्व २८/२२)

हाँ, मैं अनुमान से बता सकता हूँ – जिस देश में गायें बढ़ रही हों, दुबली नहीं हों, खूब पुष्ट हों और जहाँ दूध-दही की नदी बह रही हो; बस समझ जाना कि पाण्डव वहीं हैं; विराट नगर में उस समय गायें इतनी बढ़ गयीं थीं कि उतनी संसार में अन्यत्र कहीं नहीं थीं। 'सहदेव' तन्तीपाल नाम रख करके विराट की गायों की रखवाली कर रहे थे।

'मानमन्दिर' से ब्रज चौरासी कोस की यात्रा निःशुल्क चलती है। मानबिहारीलाल की कृपा से हमलोगों ने यात्रा को व्यवसाय नहीं बनाया। हम यह सोचकर चले थे कि यात्रा का शुल्क नहीं लेंगे। लगभग पन्द्रह-बीस हजार यात्री 'राधारानी ब्रजयात्रा' में चलते हैं और किसी से कोई शुल्क नहीं लिया जाता है; उसी पुण्य से 'मानमन्दिर की माताजी गौशाला' अपने आप चली, इस गौशाला में भी कहीं से कोई चंदा नहीं लिया जाता है क्योंकि शास्त्र में लिखा है कि <u>गायों में वह शक्ति है कि गाय स्वयं ही धन देती है, श्रद्धा-भक्ति होनी चाहिये।</u> शास्त्र में लिखा है –

लक्ष्मीश्च गोमय नित्यं पवित्रः सर्वमंगलः ।
गोमयः लेपनं तस्मात् कर्त्तव्यं पाण्डुनन्दन ॥

<u>गाय के गोबर का चौका लगाओ तो वहाँ लक्ष्मी आएगी।</u> पहले वल्लभकुल की बैठकों पर गाय के गोबर का चौका लगता था। <u>गाय के गोबर का चौका लगाओ, इसी से तुमको सब कुछ प्राप्त हो जाएगा।</u>

जाबालि ऋषि की आज्ञा से राजा ऋतम्भर ने 'गौसेवा-व्रत' किया तो उनको पुत्र की प्राप्ति हुई।

एक कथा महाभारत में आती है कि लक्ष्मीजी एक बार स्वयं गायों के पास जाकरके बोलीं – "हे गौमाता ! आपके अंगों में देवता रहते हैं, हमें भी रहने का स्थान बता दो, क्या मेरे लिए जगह नहीं है ?"

गायों ने लक्ष्मीजी से कहा कि तुम चंचला हो, हम तुमको जगह कैसे दें; हमारे रोम-रोम में देवता हैं। (ब्रह्मा, शंकर और नारायण आदि देवता भी गायों के शरीर में रहते हैं।)

लक्ष्मीजी बोलीं – "हे गौमाता ! आप हमारा अपमान कर रही हो, तो अब सारा संसार हमारा अपमान करेगा। मैं बिना बुलाये आयी हूँ, इसलिए मेरा अपमान हो रहा है।

गायों ने कहा – "अच्छा, तुम हमारे गोबर में रहो।"

लक्ष्मीजी हाथ जोड़कर बोलीं – "हे माता ! हम कृतार्थ हो गईं, आपने अपने गोबर, गौमूत्र में हमको निवास दिया, हम धन्य हो गईं।" इस प्रकार श्रीलक्ष्मीजी ने अपना परम सौभाग्य समझा।

भगवान श्रीकृष्ण ने एकबार नन्दबाबा से कहा था कि इंद्र की पूजा आप क्यों करते हैं ?

सर्वे देवाः गवामङ्गे तीर्थानि तत्पदेषु च ।
तद् गुह्येषु स्वयं लक्ष्मीः तिष्ठत्येव सदा पिता ॥
गोस्पदाक्त मृदा यो हि तिलकं कुरुते नरः ।
तीर्थ स्नातो भवेत् सद्यो जयस्तस्य पदे पदे ॥

हे बाबा ! तैंतीस करोड़ देवता गाय के शरीर में रहते हैं, लक्ष्मी स्वयं गाय के गुह्य अंगों में रहती है और सब तीर्थ उसके चरणों में रहते हैं। गौ-रज का तिलक करो, गौ-रज

में स्नान करो, इससे सभी तीर्थों का स्नान हो जाएगा, निश्चय ही हो जायेगा।

एकबार गोपियों ने श्रीकृष्ण से पूछा – "हे श्यामसुन्दर ! तुम रोज माखन चुराते हो और गोपियों को छेड़ते हो, ये सब विकर्म हैं, इनसे तुम कैसे छूटोगे ?"

श्रीकृष्ण बोले –

प्यारी गौरज गंगा नहात हौं, और जपत गउअन के नाम।
परम पुनीत सदा रहौं, याते नहिं दान लेत सकुचाउँ॥

हे गोपियो ! मैं तो प्रतिदिन गो-रज गंगा में स्नान करता हूँ और गायों का नाम जपता हूँ, मुझसे अधिक भजन कौन कर सकता है ?

'गोपालजी की गौसेवा-निष्ठा' का स्वयं छीतस्वामीजी ने अपने एक पद में वर्णन किया है –

आगे गाय पाछे गाय इत गाय उत गाय,
गोविंद को गाइनि में बसिवोई भावै।
गायन के संग धावै गायन में सचु पावै,
गायन की खुर-रज अंग लपटावै॥
गायन सों ब्रज छायौ वैकुंठ विसरायौ,
गायन के हित गिरि कर लै उठावै।
'छीत-स्वामी' गिरिधारी विट्ठलेश वपु-धारी,
ग्वारिया कौ भेषु धरैं गायन में आवै॥

ब्रज में कृष्णलीलाकाल में प्रतिदिन ही असुर आया करते थे किन्तु गायों की सेवा के प्रभाव से किसी का एक बाल भी बाँका नहीं कर पाये, इसलिए गौ-सेवा से देश का कल्याण होता है।

देखो, 'गोमुख तीर्थ' बहुत प्रसिद्ध तीर्थ है। प्राचीनकाल में एक कोढ़ी ग्वाला था; एकबार उसने देखा कि कहीं से गायें आयीं, एक गाय प्यासी थी; उसने एक गड्ढे में पानी पीने के लिए अपना मुँह लगाया, उस गड्ढे में से शुद्ध जल निकला, उस प्यासी गाय ने पानी पिया; उसके बाद बहुत-सी गायें पानी पीने के लिए आयीं और वह गड्ढा गायों के कारण बड़ा हो गया, सब गायें पानी पीने लगीं और तभी से वह 'गोमुख तीर्थ' बन गया।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है –

गावस्तिष्ठन्ति यत्रैव तत्तीर्थं परिकीर्तितम्।
प्राणांस्त्यक्त्वा नरस्तत्र सद्यो मुक्तो भवेद् ध्रुवम्॥

जहाँ गायें रहती हैं, वहाँ यदि कोई मनुष्य प्राण त्यागता है तो वह मुक्त हो जाएगा; गायों में ऐसी शक्ति है। इसलिए मरते समय गौ-दान किया जाता है क्योंकि 'गाय' मनुष्य को मृत्यु से बचाकर सद्गति देती है।

गाय ही सबकी गति है, इसका एक सबसे बड़ा प्रमाण ये है, ऋग्वेद में वर्णन आता है – एक बार इंद्र ने सभा के बीच में घोषणा किया कि हे वीरो ! हमारे कर्म 'गौ' को प्रधान स्थान देकर नियुक्त कीजिए और हमें कल्याणमय स्थिति में कीजिये। देवताओं ने वहाँ गाय की स्तुति करते हुए ये प्रार्थना किया कि हमारी बुद्धि में 'गौमाता' के प्रति आस्था बढ़े। संसार में जितने भी जीव हैं, चाहे वे देवता हैं, चाहे कोई भी हैं, किसी भी प्राणी का मल-मूत्र पवित्र नहीं माना गया, एक गाय ऐसी है जिसका 'मल-मूत्र' पवित्र माना गया और 'गाय के गोबर' से ही गौरी-गणेश की पूजा होती है, 'गोवर्धन भगवान्' का स्वरूप 'गोबर' से बनता है। गाय के मल से भगवान् की मूर्ति बनती है और समस्त देवताओं की पूजा होती है। गौरी-गणेश आदि सब बनते हैं गाय के गोबर से, ऐसा कोई प्राणी नहीं है जिसका मल-मूत्र इतना पूजा जाए; इसीलिये वेदों ने निर्णय किया कि एक ही देव है 'गौ'।

यत्सानुबन्धेऽसति देहगेहे ममाहमित्यूढदुराग्रहाणाम्।
पुंसां सुदूरं वसतोऽपि पुर्यां भजेम तत्ते भगवन् पदाब्जम्॥
(श्रीमद्भागवतजी ३/५/४३)

भगवान् हृदय में हैं फिर भी दिखाई नहीं देते हैं, क्यों ? हमारे मन में 'मैं-मेरापन' की वृत्ति घुस गयी है, इसीलिए भगवान् दिखाई नहीं देते हैं, इस मोहजन्य 'ममाहं' की वृत्ति हटने पर सहज ही भगवान् हृदय में आ जाते हैं।

गौ-सेवकों की जिज्ञासा पर माताजी गौशाला का Account number दिया जा रहा है –

SHRI MATAJI GAUSHALA, GAHVARVAN, BARSANA, MATHURA

Bank – Axis Bank Ltd A/C – 915010000494364
IFSC – UTIB0001058
BRANCH – KOSI KALAN
MOB. NO. - 9927916699

मोहजाल से बचने का उपाय 'सत्संग'

बाबाश्री द्वारा निःसृत 'श्रीभागवत-कथा' (फरवरी १९८५) से संकलित

जब देवर्षि नारदजी प्रचेताओं के पिता राजा प्राचीनबर्हि के पास पहुँचे तो उन्होंने देवर्षि से ज्ञानोपदेश करने का अनुरोध किया। नारदजी बोले – "हे राजन् ! तुमने बहुत से यज्ञ किये और उनमें हजारों पशुओं की बलि दी। जब तुम मरकर परलोक में जाओगे तो वे तुमसे बदला लेंगे; तुमने जो यज्ञ करके पशुओं को मारा, यह कोई धर्म नहीं है। अब मैं इस विषय में तुम्हें 'राजा पुरंजन' की कथा सुनाता हूँ।"

पूर्वकाल में 'पुरंजन' नाम का एक राजा था, उसका एक मित्र था, जिसका नाम अविज्ञात था; दोनों मिलकर पृथ्वी पर घूमने गये। घूमते-घूमते एक बार वे हिमालय के दक्षिण में पहुँचे, वहाँ उन्होंने नौ दरवाजों वाला एक नगर देखा, वह नगर बहुत अच्छी तरह सजा हुआ था, उस नगर के बाहर एक सुन्दर वन था। एक बार उस वन में घूमते समय राजा पुरंजन ने एक अत्यन्त सुन्दर स्त्री को देखा, वह जब आ रही थी तो उसके साथ एक पाँच फन वाला साँप भी था, वह उस स्त्री की रक्षा कर रहा था। वह सुन्दर स्त्री कमर में सोने की कौंधनी और पीले रंग की साड़ी पहने थी। उस सुंदर स्त्री को देखकर राजा पुरंजन ने पूछा – "अरी सुन्दरी ! तुम कौन हो ? तुम इन ग्यारह वीरों को लेकर घूम रही हो तो क्या लक्ष्मी हो ? लक्ष्मी तो तुम नहीं हो क्योंकि तुम्हारे चरण पृथ्वी पर पड़ रहे हैं। तुम्हारा मुख लम्बी-लम्बी काली अलकावलियों से घिरा हुआ है परन्तु लज्जा के कारण मेरी ओर नहीं हो रहा है, अतः थोड़ा ऊँचा करके अपने इस सुन्दर मुख का मुझे दर्शन तो कराओ।" श्रीनारदजी कहते हैं – जब पुरंजन ने इस तरह उस सुन्दरी से कहा तो वह कहने लगी – "मैं स्वयं नहीं जानती कि मुझे बनाने वाला कौन है ? ये वीर पुरुष मेरे सखा और स्त्रियाँ मेरी सहेलियाँ हैं तथा यह सर्प मेरी तथा इस पुरी की रक्षा करता है। यदि तुम्हारे मन में इच्छा है तो तुम मुझसे विवाह कर लो, मुझे भी तुम अच्छे लग रहे हो, मेरे साथ विवाह करके तुम इसी नगर में रहो।"

श्रीनारदजी कहते हैं कि इस प्रकार आपस में बात करके उन दोनों ने विवाह कर लिया और सौ वर्षों तक उस पुरी में वे रमण करते रहे। उस नगर में नौ दरवाजे थे, सात दरवाजे नगरी के ऊपर तथा दो नीचे थे; इन सब द्वारों के नाम - खद्योता, आविर्मुखी, नलिनी, नालिनी, मुख्या इत्यादि थे, इन द्वारों पर अलग-अलग सेवक थे। विचित्र बात यह हुई कि 'राजा पुरंजन' अपनी रानी के प्रति ऐसा आसक्त हुआ कि जब रानी उठकर खड़ी होती तो पुरंजन भी खड़ा हो जाता और जब रानी बैठ जाये तो स्वयं भी बैठ जाता था, रानी अपना हाथ ऊपर उठाती तो तुरंत पुरंजन भी हाथ उठा देता, रानी छींकती तो वह भी छींकने लगता, रानी जल पीती तो पुरंजन भी जल पीता; इस हद तक 'राजा पुरंजन' अपनी रानी पर मोहित हो गया। रानी जब गाने लगती तो राजा भी गाने लगता, रानी हँसती तो वह भी हँसने लगता और जिस समय रानी रोती तो राजा भी रोने लगता, वह दौड़ती तो पुरंजन भी दौड़ता; इस प्रकार 'पुरंजन' अपनी रानी के वश में हो गया था।

नारदजी कहते हैं कि एक दिन राजा पुरंजन शिकार खेलने रथ पर बैठकर वन में गया, उसने वन में बहुत से जंगली पशुओं का वध किया। शिकार खेलने के बाद पुरंजन अपने नगर में आया। नगर में रानी उससे रूठ गयी थी। रानी को रूठा हुआ देखकर पुरंजन घबरा गया, फिर उसने हाथ जोड़कर रानी को मीठे वचनों से बहुत मनाया; पुरंजन बोला – "सुन्दरि ! मैं तुझसे बिना पूछे वन में चला गया, अतः तू मुझे जो भी दण्ड देना चाहे दे ले; तू मुझे अपना मुख तो दिखा, मैं अधीर हो रहा हूँ; तेरा सारा श्रृंगार अस्त-व्यस्त हो रहा है।" बहुत मनाने पर अंत में पुरंजनी मान गई।

नारदजी कहते हैं कि पुरंजन द्वारा मनाये जाने पर उसकी रानी प्रसन्न हो गयी और फिर दोनों रमण करने लगे। उस पुरंजनी से राजा पुरंजन के ग्यारह सौ पुत्र और एक सौ दस कन्यायें हुईं। इसके बाद उसने अपने पुत्र और पुत्रियों का

विवाह कर दिया। पुरंजन के ग्यारह सौ पुत्रों में प्रत्येक के सौ-सौ पुत्र उत्पन्न हुए। इस तरह जब पुरंजन सम्पूर्ण जीवन अपने परिवार और विषय-भोगों में आसक्त रहा; उस समय गन्धर्वराज चण्डवेग ने पुरंजन के नगर पर आक्रमण कर दिया, उसके साथ में तीन सौ साठ गन्धर्व और तीन सौ साठ गन्धर्वियाँ भी थीं; इन सबने सारी रात उस नगर में लूटपाट मचाई। पुरंजन-पुरी की रक्षा करने वाला सर्प अकेला ही सौ सालों तक उन सात सौ बीस गन्धर्व-गन्धर्वियों से युद्ध करता रहा। इधर काल की एक पुत्री थी, जिसका नाम दुर्भगा था, वह वर की खोज में त्रिलोकी में भटकती रही किन्तु उसे कोई वर नहीं मिला। नारदजी कहते हैं कि एक बार वह मेरे पास आई और बोली कि तुम ही मुझसे विवाह कर लो। मैंने उसकी प्रार्थना स्वीकार नहीं की और उसे यवनराज भय के पास जाने तथा उसे पति बनाने के लिए कहा। जब कालकन्या यवनराज के पास पहुँची और विवाह करने की प्रार्थना की तो यवनराज बोला – चलो, मैं और तुम चलकर अव्यक्त गति से इस संसार को भोगें, यह प्रज्वार नाम का मेरा भाई है और तू मेरी बहिन बन जा। नारदजी कहते हैं कि राजन्! अब तो यवनराज भय, प्रज्वार और काल कन्या, ये तीनों ही इस पृथ्वी पर सब जगह घूमने लगे। एकबार उन्होंने पुरंजनपुरी को घेर लिया और सारी पुरी को जलाकर राख कर दिया। जब पुरी जलने लगी तो पुरंजन रोने लग गया और अंत में यवनराज और कालकन्या ने उसे पकड़ लिया। इतने में ही पाँच फन वाला सर्प भी वहाँ से भाग गया। यवनराज के बलपूर्वक खींचने पर भी राजा पुरंजन ने अपने पुराने मित्र अविज्ञात को याद नहीं किया। अंत में पुरंजन की मृत्यु हो गयी और स्त्री की आसक्ति के कारण अगले जन्म में वह स्त्री बना क्योंकि वह अंत समय अपनी स्त्री को याद करके रो रहा था। दूसरे जन्म में वह विदर्भराज के यहाँ सुन्दरी कन्या के रूप में पैदा हुआ और विवाह योग्य होने पर राजा मलयध्वज के साथ उसका विवाह हुआ तथा उसके एक कन्या एवं सात पुत्र उत्पन्न हुए। उस कन्या का अगस्त्य ऋषि के साथ विवाह हुआ। एकबार 'राजा मलयध्वज' मलय-पर्वत पर तपस्या करने गये और वहीं उन्होंने भगवान् का स्मरण करते हुए देह-त्याग कर दिया। तब उनकी पत्नी ने सती होने का निश्चय किया, वह स्त्री रो रही थी, उसी समय उसका पूर्व जन्म का सखा वहाँ आ गया और उस स्त्री से बोला – "तू कौन है, किसकी पुत्री है और रो क्यों रो रही है?" उस स्त्री ने सोचा कि यह पुरुष कौन है, मेरे पति की तो मृत्यु हो गयी। तब उसका सखा उस स्त्री से बोला कि तू स्त्री नहीं है, तू तो मेरा पूर्वजन्म का सखा है। पूर्वजन्म में हम दोनों घूमने निकले थे लेकिन तूने मेरा साथ छोड़ दिया और एक नगर में जाकर वहाँ की स्त्री के चक्कर में पड़ गया तथा मुझे भूल गया। उस स्त्री की आसक्ति के कारण तुझे मरते समय उसी की याद करने के कारण इस जन्म में स्त्री बनना पड़ा। वास्तव में तो तू स्त्री नहीं है, मेरा सखा है। 'अविज्ञात सखा' के समझाने पर उस स्त्री को स्मरण हो आया कि वास्तव में मैं स्त्री नहीं हूँ और यह तो मेरा पुराना सखा है तथा उसे अपने मित्र के वियोग से भूला हुआ 'आत्मज्ञान' फिर से प्राप्त हो गया।

राजा प्राचीनबर्हि ने नारदजी से कहा – "आपने जो यह कथा सुनाई, इसका अभिप्राय मेरी समझ में नहीं आ रहा है, इसका आशय क्या है, कृपा करके आप ही मुझे बतायें।" श्रीनारदजी ने कहा कि राजन्! यह जीव ही पुरंजन है, चाहे वह स्त्री हो, पुरुष हो, बूढ़ा अथवा जवान हो, गृहस्थ अथवा विरक्त हो। इसका सखा 'परमात्मा' है, जिसको 'अविज्ञात' नाम से कहा गया है। शरीर रूपी वृक्ष की हृदय रूपी डाल पर 'जीव और ईश्वर' रूपी दो पक्षी बैठे हैं, ये दोनों सखा हैं। जीव अपने सखा 'ईश्वर' को भूल जाता है, जैसे - पुरंजन अपनी स्त्री पुरंजनी के कारण अपने सखा को भूल गया था। पुरंजन की जो स्त्री थी, वह कौन है? वह स्त्री है 'बुद्धि'।

जैसे पुरंजन अपनी स्त्री से इस प्रकार मोहित हो गया था कि जब वह हाथ उठाती तो स्वयं हाथ उठाता, वह भोजन करती तो स्वयं करता, वह हँसती तो स्वयं हँसता, वह रोती तो स्वयं रोता। जो-जो क्रिया पुरंजनी करती, वही सब पुरंजन भी करता। यही हाल 'जीव' का है, उसकी 'बुद्धि' कहेगी कि हाथ में खुजली मचाओ तो जीव खुजली मचाने लगेगा। बुद्धि कहेगी कि भोजन करो तो जीव तुरंत ही भोजन करने लगता है। बुद्धि रूपी स्त्री जो-जो करने को कहती है, जीव रूपी पुरंजन वही-वही कार्य करता है। इसीलिए इस बुद्धि रूपी स्त्री के कारण जीव 'भगवान्' को भूल गया है और फिर

भी अपने को बड़ा बुद्धिमान समझता है। 'बुद्धि' के कारण ही जीव भोगपरायण होता है, किसी स्त्री में आसक्त होता है और फिर अगले जन्म में स्त्री योनि को प्राप्त करता है। जब स्त्री बनता है तो इसका विवाह किसी पुरुष से होता है, जब उस पुरुष की मृत्यु हो जाती है तब स्त्री रूपी जीव रोता है; तब इसका पुराना सखा 'ईश्वर' आकर इसे समझाता है। इसका रहस्य यह है कि जीव रूपी स्त्री का विवाह किसी भक्त पुरुष से हुआ, यह कौन है ? यह है 'भागवत गुरु' अर्थात् भटकते-भटकते इस जीव को किसी 'सद्गुरु' की प्राप्ति हो गयी। यहाँ 'सद्गुरु' को पति रूप में बताया गया है; जैसे - पति-पत्नी के संसर्ग से संतान की उत्पत्ति होती है, वैसे ही यह रूपक बनाया गया कि 'श्रीगुरुदेव' के संसर्ग से भी 'जीव' को सात बेटे और एक बेटी की प्राप्ति हुई। यह स्थूल शरीर की बात नहीं है, फिर ये बेटा-बेटी क्या हैं ? बेटी है 'कृष्णसेवा-रुचि'; श्रीसद्गुरुदेव के आश्रय में जाने पर मनुष्य को जो भगवत्सेवा में रुचि हो जाती है, यह है बेटी। रामायण में लिखा है –

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा।
दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥

(श्रीरामचरितमानसजी, अरण्यकाण्ड – ३५)

पहली भक्ति है – 'साधु संग'। साधु संग से भगवान् की कथा में प्रीति हो जाती है। कथा में प्रीति नहीं हुई तो समझो कि हमने साधु संग नहीं किया। या तो वह सच्चा साधु नहीं था अथवा हम जिज्ञासु नहीं थे। जैसे - पारस पत्थर का लोहे से स्पर्श करा दो तो लोहा सोना बन जाता है। अगर लोहे का पारस से स्पर्श कराने पर वह सोना नहीं बनता तो इसके दो कारण हो सकते हैं या तो वह पत्थर पारस नहीं है, नकली पत्थर है अथवा लोहा 'लोहा' नहीं है अथवा दोनों को ठीक से जोड़ा नहीं गया। वैसे ही यदि कोई मनुष्य साधु-संग करता है किन्तु उसके हृदय में भक्ति नहीं आई तो इसके पीछे तीन बातें हो सकतीं हैं। या तो वह सच्चा संत नहीं था अथवा मनुष्य के हृदय में जिज्ञासा नहीं थी, वह मनुष्य सच्चा शिष्य नहीं था, केवल मौज-मस्ती के लिए ही संत के पास चला गया अथवा यदि दोनों भी ठीक थे तो फिर दोनों का संगठन ठीक से नहीं हुआ, दोनों आपस में मिले नहीं, यदि मिलते तो अवश्य 'भक्ति' प्राप्त होती। इसलिए 'गुरु रूपी पति' और 'जीव रूपी पत्नी' के समागम से 'कृष्णसेवारुचि' नामक कन्या उत्पन्न होती है और जो सात बेटे हैं, वह सात प्रकार की भक्ति है। नवधा भक्ति में दो सिद्धा भक्ति हैं। अगस्त्यजी हैं 'मन'। जिस प्रकार अगस्त्यजी के साथ राजा मलयध्वज की कन्या का विवाह हुआ था और उससे दृढ़च्युत नामक पुत्र पैदा हुआ, उसी प्रकार मन का विवाह हुआ 'कृष्णसेवारुचि' के साथ और उसके 'वैराग्य' नामक पुत्र हुआ। 'दृढ़च्युत' का पुत्र हुआ 'इध्मवाह' अर्थात् किसी गुरु के पास जाये तो पहले सेवा करे। इस प्रकार संसार के सभी जीव पुरंजन हैं और उनकी बुद्धि ही पुरंजनी है। हम 'जीव' अपनी बुद्धि के बहकाए जाने के कारण अपने सच्चे सखा 'परमात्मा' से विमुख हो गये हैं। पुरंजनपुरी में जो पाँच फन वाला सर्प रहता था, तो यह पुरी है 'मनुष्य-शरीर' तथा पाँच फन वाला सर्प है 'पाँच-प्राण'। 'मानव-देह' समस्त जीव-शरीरों में सर्वोत्तम है, इसलिए 'जीव' इसी को देखकर इसमें रहने लगा। नौ दरवाजे क्या हैं ? ऊपर के सात दरवाजे हैं - दो आँख के छिद्र, दो कान के छिद्र, दो नाक के छिद्र, एक मुख और दो नीचे के मल और मूत्र द्वार। इस 'शरीर रूपी पुरी' में पहुँचकर 'जीव रूपी पुरंजन' बुद्धि रूपी स्त्री से मोहित हो गया है, बुद्धि जैसा कहती है वैसा ही करता है। बुद्धि कहती है - पैसा कमाओ, लड्डू लाओ, बीड़ी-सिगरेट पियो, बाजार चलो तो इसी 'बुद्धि रूपी स्त्री' के कहने के अनुसार हम 'जीव' सभी क्रियायें करते हैं। <u>केवल सत्संग मिलने पर ही हम 'बुद्धि रूपी स्त्री' के मोहजाल से बच सकते हैं।</u> जिसके द्वारा काल का ज्ञान होता है वह 'संवत्सर' ही 'चण्डवेग नामक गन्धर्वराज' है, उसके अधीन जो तीन सौ साठ गन्धर्व और तीन सौ साठ गन्धर्वियाँ हैं, वे दिन और रात हैं; ये बारी-बारी से चक्कर लगाते हुए मनुष्य की आयु को हरते रहते हैं। जीव बिना 'भगवद्भक्ति' के मायिक-बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता है, वह विशुद्ध भक्ति सच्चे संत-महापुरुषों के सत्संग से ही प्राप्त होती है।

संत-महापुरुष कहते हैं कि तुम चिंता मत करो और हमारा अनुसरण करो, हमारे पीछे-पीछे चलो, हमारे अनुकूल बन जाओ, बाकी चित्त की बाधक वृत्तियों व विषम परिस्थितियों को अनुकूल बनाने का काम हमारा है।

भक्तिमयी साधना

बाबाश्री द्वारा निःसृत 'श्रीभागवत-कथा' (फरवरी १९८५) से संकलित

कपिल भगवान् ने बहुत से साधन बताये, उन्होंने बताया कि सबसे पहले अपने स्वधर्म का पालन करो, ग्राम्य धर्मों से हटो, उन्हें छोड़ो। 'साधन का और भोजन का' बड़ा सम्बन्ध है, जो व्यक्ति अधिक भोजन करता है, वह कभी साधन नहीं कर सकता; इसे निश्चय समझ लो। शास्त्र में लिखा है कि कितना खाना चाहिए – चार रोटी की भूख है तो दो रोटी खाओ, एक रोटी की जगह पानी पीने के लिए छोड़ दो और एक रोटी की जगह छोड़ दो हवा के लिए ताकि प्राणवायु अच्छी तरह से आये-जाये ।

द्वौ खादो पूरयेद् अन्नै: तोयनैकं प्रपूरयेत्।
मारुतस्य प्रचारार्थं चतुर्थमवशेषेत् ॥

इस तरह से यदि भोजन करोगे तो तुम कभी बीमार नहीं पड़ सकते, तुम्हारी बुद्धि 'शुद्ध-सात्विक' रहेगी। जितने भी रोग हैं चाहे शरीर के अथवा मन के, ये सब अधिक भोजन करने से उत्पन्न होते हैं। जो साधक है वह सदा नियमित भोजन करेगा। इसके साथ ही सर्वदा भगवान् की लीलाओं का श्रद्धा के साथ सुनो व गाओ। ऐसा नहीं कि इतने ऊँचे महात्मा बन जाओ कि मीराजी की आलोचना करने लग जाओ और इस तरह छुरी लेकर अपना ही गला काटने की तैयारी करने लगो, इतने ऊँचे भी मत बन जाना। भगवान् लीला करते हैं अपने भक्तों के लिए, यदि कोई ज्ञान के मद में आकर उसकी आलोचना करे तो समझो कि वह तो विनाश के रास्ते में जा रहा है। जब साधन करने बैठो तो प्राणायाम करो, प्राणायाम करते हुए ध्यान करो। यहाँ प्राणायाम क्यों बताया गया है, इसे समझ लो । भक्ति अनेक प्रकार की होती है, जैसे - विशुद्धाभक्ति, योगमिश्राभक्ति, ज्ञानमिश्राभक्ति...इत्यादि। आचार्यों ने लिखा है कि ब्रज में अनन्य विशुद्धाभक्ति चल रही है और यहाँ पर आकर उनका मत अलग हो जाता है। पुराणों के जो आचार्य हैं, वे इन सब साधनों को भी ग्रहण करके चलते हैं जैसे योग, ज्ञान आदि। वे इन्हें क्यों ग्रहण करते हैं, इसलिए ग्रहण करते हैं कि एक कहावत है कि मन हमेशा एक-सी चीज में नहीं लगता है, यह एक क्रियात्मक (practical) अनुभव की चीज है कि मन हमेशा परिवर्तन चाहता है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है, इसे कोई काट नहीं सकता। मन सदा परिवर्तन चाहता है, इसलिए आचार्यों ने अनेक साधनों को जीव के लाभ की दृष्टि से अपनाया क्योंकि प्रारम्भिक साधक का मन केवल लीलागान, ध्यान में नहीं लगेगा। यह बड़ा कठिन है, सतत् लीला चिंतन खेल नहीं है । यह तो बड़ी सिद्धावस्था की बात है । आचार्यों ने इसीलिए अनेक साधनों को अपनाया क्योंकि अनेक साधनों के प्रयोग से जल्दी से जल्दी जीव को लाभ हो। उनका लक्ष्य कोई नुक्सान करने का नहीं है। रसिक महापुरुषों ने अपनी स्थिति के अनुसार अनन्य विशुद्धा भक्ति का उपदेश दिया, वह भी ठीक है। किन्तु इन पुराणों के आचार्यों का भी दृष्टिकोण समझना चाहिए, इनका लक्ष्य यह है कि जीव को जल्दी से जल्दी लाभ हो। दोनों के दृष्टिकोण सही हैं, जिसको जिसमें अनुकूलता पड़े, वह उसे करे। किसी की भी बात को गलत नहीं कहा जा सकता। अब इनमें ऊँचा कौन है क्योंकि विशुद्धा भक्ति वाले बहुत से लोग अपने को ऊँचा बताते हैं और शास्त्र पढ़ने वाले अपने को ऊँचा बताते हैं। इसमें बड़ी तू-तू, मैं-मैं होती है। इनमें ऊँचा कौन है तो इसका एक नमूना समझो –

कहीं पर इंटरव्यू हो रहा था, कोई राजा का बेटा किसी इंटरव्यू में गया। इंटरव्यू वाले ने पूछा – तुम कौन हो ? राजपुत्र बोला - मैं एक राजा का बेटा हूँ। इंटरव्यू वाले ने कहा – मैं यह नहीं पूछ रहा हूँ कि तुम्हारे पिता कौन हैं, मैं पूछ रहा हूँ कि तुम क्या हो ?

अतः यदि कोई कहे कि हम इसलिए ऊँचे हैं क्योंकि ऊँचे घर के हैं या ऊँचे अनन्य हैं, हम अमुक रसिकाचार्य की परम्परा के हैं तो यह बात अधूरी है। तुम क्या हो, तुम्हारे मन की स्थिति क्या है ? हम ऊँचे घर के हैं, ऊँचे सम्प्रदाय के हैं, ऐसा कहकर बहिर्मुखता में डोल रहे हैं,

यह पोल है, खोखलापन है, इससे कल्याण नहीं होगा, यह केवल अन्धता है। लिखा भी है, बहुत से लोग जो अपने को रसिक मानते हैं, उनके बारे में बिहारिनदेवजी, सेवकजी इत्यादि महापुरुषों ने ने लिखा है –

कांचे धर्मिन के सुनो धर्म।

धर्मी धर्म मर्म न जानत॥

तुम्हारी स्वयं की स्थिति क्या है ? तुम रसिक बन गए हो किन्तु हो काँचे धर्मी, इससे कल्याण नहीं होगा। इसलिए महापुरुषों का लक्ष्य है कि जीव किसी तरह जल्दी से जल्दी प्रभु में लगे। इसके लिए शास्त्रों में अनेक साधनों को बताया गया है, उसको आँख मूदकर एकदम से काटना नहीं चाहिए। यह सब इसीलिए विस्तार से कहा गया है क्योंकि बहुत से लोग व्यर्थ की आलोचना किया करते हैं कि अरे ! भागवत में तो बहुत-सी बातें लिखी हुई हैं। अब क्यों लिखी हैं ? कल्याण के लिए ही तो लिखी हैं। मान लो, तुम बड़े ऊँचे अधिकारी हो, लीला में तुम्हारा मन लग रहा है, दिन-रात भगवद्-रस में, लीला में तुम डूब गए हो तो तुम वास्तव में ऊँचे अधिकारी हो परन्तु जो साधारण जीव हैं, उनके लिए तो भागवत के सिद्धान्त लाभकारी हैं। आजकल पहले ही लोग कहने लग जाते हैं कि हम तो ऐसे रस में आ गए हैं कि नवधा भक्ति से ऊपर उठ गए हैं, भागवत-कथा को तो हमने वमन (उल्टी) कर दिया; अपनी स्थिति को बिना विचारे लोग ऐसा कह देते हैं। इसलिए भागवत के इस प्रसंग में कपिल भगवान् ने जो 'प्राणायाम' की बात कही है, वह बहुत कल्याणकारी है। मेरा तो स्वयं का अनुभव है कि किसी के मन में कितना भी बड़ा दोष है, काम विकार आदि हैं, उस समय तुम साँस खींचकर बैठ जाओ, प्राणायाम करो; थोड़ी देर तक प्राणायाम करोगे तो तुमको मृत्यु दिखाई देने लगेगी और मन के सब विकार गायब हो जायेंगे; यह तो मैंने स्वयं अनुभव किया है। जो साधन नहीं करेगा, उसके लिए यह सब कठिन है; लेकिन इन सब साधनों को जिसने किया है, वह समझ जाएगा कि हाँ, ये सब चीजें लाभ करती हैं। अब जैसे 'प्राणायाम' के बारे में आचार्यों ने टीका में लिखा है – **यथा शकुनि सूत्रेण प्रतिबद्धो दिशं दिशं प्रतीत्वा .....** छान्दोग्य उपनिषद का यह मंत्र आचार्यों ने प्रमाण में लिखा है; इसका अर्थ है – जैसे एक चिड़िया बुलबुल होती है, उसे पालने वाले एक T(टी) के आकार का अड्डा रखते हैं, उस पर एक डोर से 'बुलबुल' को बाँधकर रखते हैं, कभी बुलबुल को उँगली पर बिठाते हैं, कभी अड्डे पर बिठाते हैं; वह 'बुलबुल' नामक चिड़िया जो पहले बहुत उड़ने वाली थी, अब उस डोर के कारण उसकी गति रुक गयी, अब वह ज्यादा दूर नहीं जा सकती है, अड्डे से हटेगी तो उँगली पर बैठ जायेगी; वैसे ही वायु एक प्रकार की डोर है, 'वायु' में ऐसी शक्ति है कि जो भी वायु को रोककर 'प्राणायाम' करता है तो 'मन रूपी चिड़िया' ज्यादा दूर तक नहीं जा पाती है, इसके पंख कट जाते हैं और बहुत जल्दी वश में हो जाती है। इस रहस्य को मन्त्रों में ऋषियों ने बताया है, जैसे – **'यथा शकुनि सूत्रेण प्रतिबद्धः'** वैसे ही **'प्राण बन्धनं हि सौम्य मनः'** ये जो मन है, यह प्राणबन्धन है यानि प्राणवायु में बँधा हुआ है, जिसने प्राणवायु को रोक लिया, उसका मन बहुत जल्दी रुक जाएगा; साधना करने के लिए यह उपाय बहुत अनुकूल है। 'लोहार' वायु और अग्नि के द्वारा 'लोहा' को शुद्ध कर लेता है; लोहा, चाँदी, सोना इसी प्रकार शुद्ध किये जाते हैं; वैसे ही ध्यान करते समय मनुष्य यदि अपनी प्राणवायु को रोके तो इससे मन शुद्ध हो जाता है; यह कोई खराब बात नहीं है, इसलिए नित्य नियम से कुछ देर तक प्राणायाम करो अर्थात् प्राणवायु को रोको, वह तुम्हारे मन में अनुकूलता ही लाएगा; इससे श्रीभगवान् की आराधना में मन अपने आप ही उत्साहपूर्वक अधिक रुचि के साथ लगेगा, कथा-कीर्तन करने में सहज ही आनन्द आयेगा और नित्य निरन्तर भाव-प्रेम बढ़ता रहेगा...।

'जीव' सुखी हो जाए, इसका एक ही रास्ता है कि वह 'श्रीठाकुरजी' तक पहुँच जाए और उन तक पहुँचाने के लिए जो यात्रा है, उसे श्रीसहचरीवृन्द ही सम्पन्न करती हैं; श्रीराधारानी की करुणा से ही उनकी 'सखी-सहचरियाँ' संतों, आचार्यों के रूप में धरा-धाम पर अवतार लेकर रसोपासना बताती हैं।

भवभयहारी 'समत्व बुद्धि'

बाबाश्री के श्रीमद्भगवद्गीता-सत्संग (२८/१/२०१२) से संकलित

श्लोक – ३९

एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥

भगवान् इस श्लोक में कहते हैं कि अभी तक मैंने ज्ञान के बारे में बताया परन्तु कर्मयोग की बुद्धि अलग है और ज्ञानयोग की बुद्धि अलग है। ज्ञानयोग का नाम ज्ञानयोग इसलिए है क्योंकि इसमें ज्ञान की प्रधानता रहती है, इसमें लोग आत्मज्ञान की चर्चा करते हैं कि आत्मा का क्या स्वरूप है ? जबकि कर्मयोग अलग है। इसमें लोग कर्म की निष्ठा लेकर चलते हैं, कर्म की बातें करते हैं। ऐसे ढंग से कर्म करो कि भवसागर पार कर जाओ। अस्तु, दो प्रकार की निष्ठा होती है - ज्ञानयोग व कर्मयोग। क्या कर्म करने की जरूरत है ? तो भगवान् कहते हैं कि हाँ, जरूरत है – **न कर्मणामनारंभान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।**
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥

(श्रीगीताजी ३/४)

किसी ने कहा कि हम कर्म ही नहीं करेंगे तो बन्धन कहाँ से होगा। कर्म यदि हम शुरू नहीं करेंगे तो नैष्कर्म्य हमको स्वतः ही प्राप्त हो जाएगा। 'नैष्कर्म्य' उसको कहते हैं जिस अवस्था में कर्म का बन्धन ही नहीं लगता है। 'नैष्कर्म्य' एक सिद्धि है जो कर्म करने पर भी बाँधती नहीं है।

भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि अभी तक मैंने तुमसे ज्ञानयोग की चर्चा की थी, अब कर्मयोग के बारे में सुनो, वह अलग है। कर्मयोग से भी भगवान् मिल सकते हैं, ज्ञानमार्ग से भी भगवान् मिल सकते हैं। किसी भी बुद्धि से युक्त होने पर वह कर्मबन्धन को काट देगा। मनुष्य का कर्मबन्धन नष्ट हो जाएगा, चाहे वह सांख्य (ज्ञानयोग) की बुद्धि है, चाहे कर्मयोग की बुद्धि है। कर्मयोग की बुद्धि क्या होती है ? समत्व की बुद्धि ही कर्मयोग की बुद्धि है। **'समत्वं योग उच्यते'** जो आदमी कभी उदास नहीं होता है, रोता-चिल्लाता नहीं है, अप्रसन्न नहीं होता, जिसकी बुद्धि एक-सी रहती है, वह कर्मयोगी है। इसीलिए भगवान् यहाँ कहते हैं कि किसी भी बुद्धि से युक्त होने पर कर्मबन्धन को काट डालोगे।

श्लोक – ४०

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

कर्मयोग का आरम्भ होने पर बीच में यदि यह छूट जाए तो भी मनुष्य का नाश नहीं होता, इस कर्मयोग रूपी धर्म का थोड़ा-सा भी पालन कर लिया जाय तो महान भय से रक्षा हो जाती है। स मत्वयोग की बुद्धि का यदि हमने कुछ देर तक अभ्यास किया और मान लिया कि आगे विषमता आ गयी तो भी समत्वबुद्धि (कर्मयोग) का साधन व्यर्थ नहीं गया। जितनी देर तक हमने इसका अभ्यास किया, उतनी देर तक हमारी बुद्धि स्थिर रही और इसमें कोई विघ्न नहीं है। समत्व बुद्धि का थोड़ा भी अभ्यास किया तो इसमें विघ्न नहीं होता है बल्कि थोड़ा-सा भी यदि समत्व के धर्म का अभ्यास कर लिया तो यह महान भय से हमारी रक्षा करेगा। 'बुद्धि' बुद्धि को उत्पन्न करती है, थोड़ी देर यदि बुद्धि स्थिर रही तो संस्कार पड़ जायेंगे और वह बुद्धि आगे ऐसे ही संस्कार उत्पन्न करेगी। इसलिए यह नहीं सोचना चाहिए कि हमने समत्व का अभ्यास किया तो वह बेकार गया। किसी ने तुमको गाली दिया और तुमने सह लिया तो वह सहना व्यर्थ नहीं गया। तुमने जो सह लिया, उससे तुम्हारे कुछ अशुभ जल ही गए, बुद्धि स्थिर ही रही। यह तो सांसारिक मानसिकता है कि हमारा अपमान हो गया, हमारी नाक कट गई; ऐसा स्थूल बुद्धि वाले ही सोचा करते हैं। सांख्य वाले ऐसा नहीं सोचते हैं, सांख्य वाले तो कहते हैं कि मान-अपमान है ही नहीं।

'कर्मयोगी' का जो कर्म है बुद्धि को स्थिर रखना, वह भी नष्ट नहीं होता है। हर कर्म संस्कार बनाता है। कई प्रकार के संस्कार होते हैं, एक तो व्युत्थान के संस्कार होते हैं, जैसे – 'बुद्धि की चंचलता' एक क्षण को बुद्धि में काम आया, क्रोध आया; ये संस्कार बुद्धि को चंचल बनाते

हैं। यदि हमने बुद्धि को स्थिर किया तो ऊपर से लगता है कि हमारा अपमान हो गया परन्तु यह अपमान नहीं है। बुद्धि स्थिर होना चाहिए, स्थिर बुद्धि वाला परमात्मा को प्राप्त कर लेता है; ऐसा भगवान् ने कहा है –

"समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि"

(श्रीगीताजी २/५३)

जिस समय बुद्धि 'भगवान्' में अचल हो जायेगी, तब स्वतः ही योग की प्राप्ति हो जायेगी; इसलिए बुद्धि की स्थिरता सबसे बड़ी चीज है। अर्जुन ने प्रश्न किया कि स्थितप्रज्ञ की क्या भाषा है, उसके क्या लक्षण हैं ? तब भगवान् ने श्लोक '२/५५' से अंत तक स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताये; यह गीता की देन है, अन्य किसी शास्त्र में इस प्रसंग का इतना अधिक विस्तार नहीं है। 'स्थितप्रज्ञ' को बहुत शीघ्र 'भगवान्' की प्राप्ति होती है।

वैष्णव सम्प्रदाय के किसी एक गोस्वामीजी का शिष्य एकबार बहुत विकल हुआ और 'गोस्वामीजी' के पास जाकर बोला – "गुरुदेव ! मुझे भगवान् के दर्शन किसी भी प्रकार कराइये।" गोस्वामीजी ने कहा – "तुझे मैं भगवान् का दर्शन करा दूँगा, तू पहले अपनी समस्त संपत्ति का मोह छोड़ दे।" वह शिष्य श्रद्धालु था, उसने अपनी समस्त संपत्ति छोड़ दी और गुरुजी के नाम लिख दी। गोस्वामीजी ने उससे कहा कि गोकुल में यमुनाजी के किनारे बैठ जाना, वहाँ तुमको भगवान् के दर्शन होंगे। वह शिष्य गोकुल में यमुनाजी के किनारे जाकर बैठ गया परन्तु उसको भगवान् नहीं मिले तो बहुत से पण्डे उसका उपहास करने लगे और कहने लगे कि देखो, गोसाईंजी ने इसको कैसा मूर्ख बनाया, इसका सब पैसा ठग लिया, अपने नाम लिखा लिया और कह दिया कि तुझे भगवान् के दर्शन होंगे। परन्तु वह शिष्य सच्चा श्रद्धालु था, उसने कहा कि मेरे गुरुजी की निंदा मत करो; उन्होंने तो मेरी माया छुड़ा दी, नहीं तो मैं कभी माया छोड़ ही नहीं सकता था। वह जीवन भर संपत्ति का त्याग करके ही रहा। इसलिए भगवान् इस श्लोक में कहते हैं कि समत्व के अभ्यास से कभी नाश नहीं होता, इसमें कोई विघ्न नहीं है क्योंकि 'बुद्धि का स्थिर हो जाना' एक ऐसा धन है जो लाखों वर्षों में कभी नहीं मिलता। लोग साधु बन जाते हैं फिर भी उनकी बुद्धि स्थिर नहीं रहती है, वहाँ भी धन की वासना उनको नचाती रहती है। स्थिर बुद्धि होने का पहला लक्षण है कि कामनाएँ समाप्त हो जाती हैं। कामनाएँ मन में रहती हैं, कामनाओं के नष्ट होने पर मन अपने आप ही स्थिर हो जाता है और फिर वह सदा संतुष्ट रहता है। हम लोग स्वयं कामी हैं और जिससे प्रेम करते हैं, उसे भी कामी बना देते हैं; पुत्र से प्रेम करते हैं तो उसको कामी बना देते हैं, उसको सिखा देते हैं कि खूब धन कमा। जितना अधिक किसी की कामना पूर्ति करते हैं, संसार में इसी को प्यार समझा जाता है। यदि तुम्हारा अपनी स्त्री से प्यार है, उसके लिए गहने-साड़ी ले जाओगे तो वह प्रसन्न होगी क्योंकि वह कामनाओं से ग्रसित है, इससे उसका कामनाओं का बन्धन बढ़ता है। सच्चा प्यार यही है जब 'पुरुष' अपनी स्त्री को त्याग सिखाता है। सच्चा प्यार यही है जब मनुष्य अपने पुत्र को त्याग सिखाता है।

समत्व की बुद्धि से तुम स्वतः ही कर्मबन्धन को छोड़ दोगे और समत्व का अभ्यास अविनाशी है, कभी नष्ट नहीं होता है। **"स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्"** यदि इस धर्म का थोड़ा-सा भी पालन कर लिया जाए तो महान भय से रक्षा हो जाती है। 'थोड़ा' से मतलब यह है कि जैसा भगवान् ने कहा कि सुख-दुःख, मान-अपमान में समान रहो; हमारा अपमान हुआ और हमने सह लिया तो उतने से ही बहुत बड़ा फायदा हो जाता है।

वास्तविक विवेक 'वैराग्य'

बाबाश्री द्वारा निःसृत 'श्रीभागवत-कथा' (फरवरी १९८५) से संकलित

सब जगह जो मिठास है, रस है, सुख है; वह 'ब्रह्म' का ही है। यह धोखा है जो हमलोग समझते हैं कि लड्डू मीठा है, स्त्री मीठी है। सब जगह मिठास 'ब्रह्म' से आ रही है। श्रीदेवहूतिजी ने कपिल भगवान् से पूछा – "हे भगवन् ! प्रकृति और पुरुष एक-दूसरे को नहीं छोड़ रहे हैं तो मुक्ति कैसे होगी ? जैसे हम भजन करके मुक्ति प्राप्त कर लें लेकिन प्रकृति तो पास में ही

बैठी है तो फिर मुक्ति कहाँ से होगी ? पानी में रहकर कोई कब तक नहीं भीगेगा ? मान लो थोड़ी देर के लिए हम बन्धन से छूटकर आ गये लेकिन बाद में प्रकृति फिर लिपट जाएगी क्योंकि प्रकृति तो पास में ही बैठी है, इसलिए संसार से मुक्ति कैसे हो सकती है ?

कपिल भगवान् ने कहा कि हे माताजी ! आप ठीक प्रश्न पूछ रही हैं, लेकिन बात यह है कि 'प्रकृति अथवा माया' बन्धन नहीं है और न ही 'पुरुष' बन्धन है।

आचार्य लोग लिखते हैं कि प्रकृति से सम्बन्ध होना बन्धन नहीं है, प्रकृति पास में है - चाहे लड्डू है, पेड़ा है, चाहे स्त्री है; उससे हमारा सम्बन्ध है तो वह सम्बन्ध बन्धन नहीं है। हम लोग ऐसा समझते हैं - जैसे कोई व्यक्ति लड्डू खा रहा है, लड्डू उसकी जीभ पर गया तो वह लड्डू में बँध गया क्योंकि प्रकृति से सम्बन्ध हो गया; वस्तुतः ऐसा नहीं होता है। आचार्य लोग लिखते हैं –

प्रकृति सम्बन्ध मात्रं बन्ध हेतुः .....

स्थूलबुद्धि के लोग समझते हैं कि प्रकृति से सम्बन्ध हो गया तो बन्धन हो गया लेकिन 'सम्बन्ध' बन्धन नहीं है। **'गुणबुद्ध्यातदासक्तिर्बन्धः'** गुणबुद्धि से जो विषय में हमारी आसक्ति हो जाती है, वह बन्धन है। 'प्रकृति का सम्बन्ध' बन्धन नहीं है। जैसे कमल का पत्ता जल में रहकर भी जल से अलग रहता है, है जल में किन्तु जल से अलग है; जब गुणबुद्धि से हमारी आसक्ति हो जाती है तब बन्धन है। एक आसक्ति होती है भगवद्-बुद्धि से, वह तो मुक्ति का मार्ग है किन्तु गुणबुद्धि से जो आसक्ति होती है, वह बन्धन है। इसलिए जो भी जीव भजन कर रहा है, जब वह आसक्ति रहित हो जाएगा तब मुक्त हो जाएगा, इसमें कोई संदेह की बात नहीं है। एक बात बहुत अच्छी कही गयी है कि जब मनुष्य आसक्ति तोड़कर जाग जाता है, तब संसार में रहते हुए भी मुक्त हो जाता है। कब जागता है वह ? जब उसे वैराग्य हो जाता है। संसार में लोग 'वैराग्य' को बुरा समझते हैं। किसी घर के बालक के मन में 'वैराग्य' उदय हो जाए तो उसके घर वाले यही समझते हैं कि इसके कर्म फूट गए, भाग्य नष्ट हो गया। किसी बालिका के मन में 'भजन' करने की प्रवृत्ति हो जाए तो लोग कहते हैं कि इसका तो जीवन ही नष्ट हो गया। किन्तु भगवान् कपिल ने कहा है –

यदैवमध्यात्मरतः कालेन बहुजन्मना।
सर्वत्र जातवैराग्य आब्रह्मभुवनान्मुनिः ॥

(श्रीभागवतजी ३/२७/२७)

सौ, दो सौ, पाँच सौ, हजार, लाख, करोड़ों वर्षों के जब पुण्य इकट्ठा होकर आते हैं, तब जीव को 'वैराग्य' की प्राप्ति होती है। 'वैराग्य' कोई ऐसी वस्तु नहीं है जैसा कि हम लोग समझते हैं कि कर्म फूट गया; 'वैराग्य' बहुत बड़ी वस्तु है। करोड़ों-अरबों वर्षों से जो माया का बन्धन चला आ रहा है, उससे जब जीव छूटने के लिए चलता है तो लोग समझते हैं कि इसका कर्म फूट गया है, भाग्यहीन हो गया है, अब यह भिक्षा माँगकर खायेगा; ऐसा नहीं है, वह 'जीव' तो ऐसा धन प्राप्त कर रहा है जो करोड़ों सेठ नहीं पा सकते; जितने बड़े-बड़े सेठ हैं, इनको अरबों वर्ष लग जायेंगे तब शायद इन्हें वैराग्य मिले, नहीं तो पैसा गिनने में ही इनके कई जन्म बीत जायेंगे, पैसा समेटते-समेटते ही ये मर जायेंगे और फिर छोड़कर चले जायेंगे, फिर भी ऐसे ही लोग दुनिया में बड़े आदमी बोले जाते हैं। जिस आदमी के पास जितना पैसा बँधा पड़ा है, जितनी अधिक वस्तुयें इकट्ठा हैं, वही आदमी दुनिया में ज्यादा बड़ा माना जाता है; दुनिया का पैमाना अलग है।

भगवान् कपिल कहते हैं कि जब अनेक जन्मों के पुण्य इकट्ठा होते हैं, तब उस मनुष्य को ब्रह्मलोक तक के भोगों से 'वैराग्य' हो जाता है, ये है वास्तविक वैराग्य; ये नहीं कि थोड़ी देर के लिए लँगोटी लगा ली और भस्म लगा लिया तो हो गया वैराग्य, ये वैराग्य नहीं है।

वस्तुतः मुझे धन नहीं चाहिए, कीर्ति नहीं चाहिए, किसी प्रकार का भोग नहीं चाहिए, स्त्री आदि नहीं चाहिए, ये जो हृदय में इच्छा है कि इन वस्तुओं से राग हट जाए, ये है 'वैराग्य'। इस प्रकार का जो 'वैराग्यवान भक्त' है, वह उस वस्तु को प्राप्त कर लेता है, जहाँ मृत्यु का हास्य नहीं है – (श्रीभागवतजी ३/२७/३०) 'मृत्युहासः' का मतलब मृत्यु अट्टहास करती है। हमलोग जब कोई सांसारिक वस्तु इकट्ठा करते हैं तो मृत्यु देवता हँसते हैं कि देखो, यह मेरा भोजन है, मेरी दाढ़ के नीचे आकर मरने वाला है, फिर भी जोड़-जोड़कर विनाशी 'वस्तुओं, धन' का संग्रह कर रहा है। किन्तु 'विरक्त' जिस वस्तु को प्राप्त कर लेता है, वहाँ मृत्यु का हास्य नहीं है।

नित्य आराधना: ब्रज के रसिया गीतों की साध्वियों द्वारा नित्य संध्या सेवा

श्री राधा रानी संगीत विद्यालय में गुरुजनों द्वारा नियमित प्रशिक्षण

श्री माताजी गौशाला में जनवरी मास में ४ दिनों के भीतर लगभग 2000 बेसहारा गोमाताओं को शरण।

RNI Reference No. 1313397 - Registration No. UP BIL-2017/72945 - Title Code UP BIL-04953
Postal Regd. No. MTR 093/2021-2023
श्री मान मंदिर सेवा संस्थान के लिए प्रकाशक/मुद्रक एवं संपादक राधाकांत शास्त्री द्वारा Gupta Offset Printers A -125 /1, Wazirpur Industrial Area, New Delhi -52 से मुद्रित एवं मान मंदिर सेवा संस्थान, गह्वर वन, बरसाना, मथुरा (उ.प्र.) से प्रकाशित